भिनसारे में [illegible]ालती

[illegible]अरगड़े

H
813.31
Ar 36 B

H
813·31
Ar 36 B

ये निबन्ध अपनी प्रकृति में ललित चिन्तनात्मक हैं। अपने समय की आवाज़ प्रकृति और समाज के बीच से पहचानने का प्रयत्न इन निबन्धों में किया गया है। 'शिरीष के फूल' से आरम्भ हुई यह निबन्ध-यात्रा किन-किन मोड़ों से होती हुई चली है, यह संकलित निबन्धों से स्पष्ट होगा।

वर्तमान शताब्दी में पहुँचा आज का मनुष्य कई सामाजिक, वैचारिक अन्तर्विरोधों से घिरा है और ये अन्तर्विरोध उसे गहरे तक आन्दोलित करते हैं। आज का मनुष्य किसी 'अन्तिम सिद्धान्त' की खोज में है यह प्रतीति भी प्रस्तुत संकलन में शामिल निबन्धों में स्पष्ट है। इनमें आद्यन्त रागात्मकता और सत्य के चेहरे को पहचानने का हल्का-सा, मगर दृढ़ प्रयास है। इंसानियत की तलाश में लेखिका ने मनुष्य की सम्वेदना के बिल्कुल निर्जन व अनजान कोने को भी गहरा स्पर्श किया है, जो बेचैन करता है।

ITUTE

TUDY
IMLA

भिनसारे में मधुमालती

रंजना अरगड़े

राधाकृष्ण

Library IIAS, Shimla
H 813.31 Ar 36 B
00110306

ISBN 81-7119-662-4

भिनसारे में मधुमालती

© रंजना अरगड़े

पहला संस्करण : 2001

मूल्य : 125 रुपए

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110 051

आवरण : सोरित

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

BHINSARE MEIN MADHUMALTI by Ranjna Argde

काले सूरज
और
धवल उम्मीदों
के नाम

आभार

– साक्षात्कार (भोपाल), अतिक्रमण (बरछुआ) तथा अस्मिता (वल्लभ विद्यानगर)।
– श्री अख़्तर ख़ान पठान को, जिन्होंने निबंधों की पांडुलिपि तैयार करने में मदद की।
– श्री अशोक महेश्वरी, जिन्होंनें आत्मीय तत्परता से निबंधों को प्रकाशित करना स्वीकार किया।

निवेदन

आकाश में उड़ने के पूर्व समोयी होती है उड़ान पंखों में, पंखों की जड़ों में !

छोटी-छोटी और टूटी कोशिशों के बाद ही चूजा पहले मुँडेर पर, फिर छज्जे पर, फिर छत पर—पेड़ पर और तब जाकर फुर्र-र्र-र्र से आकाश के खुलेपन में पहुँचता है। वह आकाश को भी अपनी उड़ान बना लेना चाहता है।

'भिनसारे में मधुमालती' यह मेरा पहला निबंध-संग्रह है। पढ़ने के बाद आप ही तय करेंगे कि मैं कहाँ हूँ—मुँडेर पर, पेड़ पर या...!!

आकाश को अपनी उड़ान बना लेना भी कठिन लक्ष्य है, पर असंभव नहीं, क्योंकि जब आपके सामने जौनाथन लिविंगस्टन सीगल जैसा साधक हो तो लक्ष्य क्या हो, यह बहुत सरलता से जाना जा सकता है।

तुम किस आकाश से ताक रहे हो मुझे, मेरे स्वर्णिम जौनाथन—शमेशर !!

और भी कई जौनाथन स्वर्णिम धूप में नहाते हुए अपने-अपने आकाशों में से मुझे इशारा कर रहे हैं और मैं अभी यही अंदाज़ा लगाने में उलझी हुई हूँ कि छत ऊँची है या पेड़ !

मेरी इस उड़ान के संभावित साथी लेले साहब मृदुल; प्रवीण ने मेरी उड़ान को तब से देखा है, जब केवल पंखों की जड़ें कहीं धीरे-धीरे उड़ान समोने की तैयारी कर रही थीं। इस पूरी प्रक्रिया के वे साक्षी हैं। वे भी अपने-अपने ढंग से उड़ रहे हैं—अपने-अपने आकाशों

की खोज में—हम सब उड़ते-उड़ते किन्हीं परिधियों पर मिलते...देर तक साथ-साथ उड़ते !

वहाँ बहुत ऊँचे एक बुजुर्ग सीगल उड़ते हुए जा रहे हैं—वो बार-बार नीचे आकर मुझे उड़ने का आनंद और उड़ने की अनिवार्यता का मंत्र देते हैं। उन्हें क्या मेरी इस उड़ान में संभावना दिख़ रही होगी—मैं उन्हें यहीं से पुकारकर पूछती हूँ—बताइए मेरे बुज़ुर्ग सीगल...आदरणीय...श्रद्धेय...भोला भाईजी...?

मेरी यह उड़ान, नीम के फूलों की कड़ुवी मादकता-से भरी आकाशों में कितना अर्थ रखेगी, मैं नहीं जानती। सचमुच !

—रंजना अरगड़े

भिनसारे में मधुमालती

अनुक्रम

फिर फूल में लग जा...	15
नया वसंत	20
मोर कहीं बोला	23
आईने पर थूकना	28
वह दरिया है	32
वापिस लौटना क्या संभव है ?	41
फिर आ गए शिरीष	46
पंक ज	51
मर गया ईश्वर	54
कुछ अंतरंग क्षण कृष्णा सोबती के संग	60
आजा मेरी गाड़ी में बैठ जा...	71
भिनसारे में मधुमालती	76

फिर फूल में लग जा...

रात को दिन से अलगाती हुई यह टटकी भोर और सरसराती हवा के साथ-साथ कहीं से बजती यह भजन पंक्ति—'पत्ता टूटा डाल से, ले गई पवन उड़ाय...'

...ये शब्द अचानक कहीं मेरे अंदर अटक गए। मैं मन-ही-मन उन्हें दोहराने-तिहराने लगी। पत्ता टूटा डाल से...

ये टूटना, छूटना, अलग होना तो प्रतिक्षण का व्यापार है। शायद हमारे चारों ओर होने वाली सबसे अधिक सामान्य और न मालूम-सी घटना। हमारे होने का अगर सबसे बड़ा और एकमात्र कोई सत्य है तो वह यही—अलग होना है...जुदाई...सेपरेशन...। 'अलग होने' की बात को लेकर कोई ज़रूरी नहीं कि हम बड़े भावुक बन जाएँ या फिर दार्शनिक हो जाएँ। क्योंकि अलग होना इतनी ही सहज क्रिया है, जितना कि पत्ते का डाल से टूटना !! मैं कई बार सोचती हूँ कि अगर अलग नहीं होते, तो 'होते' भी क्यों। अलग होने में ही हमारा, या किसी का भी होना निहित है, टिका है।

इन दिनों ऋतु वसंत है और पेड़ों में पतझड़ जारी है। जारी है नए-नए पत्तों का आना। एक तरफ़ लाल-चिकनी कोंपलें नंगी डालियों को अपनी कोमलता से ढँके रहती हैं—वही पेड़ों तले चर्र-मर्र चर्र-मर्र के मर्मर स्वर हवा

में उठते रहते हैं। ये कौतुक हर साल, साल-दर-साल मैं देखती आ रही हूँ कि एक ही साथ सूखे, पीले, पके और नए हरे सुचिक्कन पात डालियों पर संग-संग...। अलग होने का ही तो दूसरा नाम है जुड़ना। तब क्या ये अजब नहीं कि हम अलग होने को लेकर इतना भावुक हो उठें। मेरे मन में बार-बार यह सवाल उठता है कि क्यों अस्तित्व के इस सबसे सरल, सहज और नित्य सत्य के प्रति हम, न जाने कब से...आज भी भावुक हो उठते हैं। क्यों सहजता से मान नहीं लेते कि 'पत्ता टूटा डाल से, ले गई पवन उड़ाय...।'

मज़ा देखिए आप—दो शब्द हैं—एक 'टूटना', दूसरा 'जुदा होना'। क्रिया को अगर भावना का ख़ोल पहना दें या भावना के ख़ोल में लपेट दें...तो बात निकलेगी जाकर दूसरे ही किसी बग़ैर। पर...

दर्पण के इस ओर 'टूटना' है तो उस ओर 'बिछुड़ना' है और उसके पीछे से झाँकता है 'मिलना'। राग भी, वीतराग भी।

कवि के आश्रम से विदा होती शकुंतला, या राम से सीता का विरह, या उर्मिला का विरह या उर्वशी से पुरुरवा का विरह—हमारे कवियों ने इसका आलेखन कितनी तन्मयता से किया है—जैसे विरह ही केंद्रीय अनुभूति है हमारी ? तन्मयता का यह आलम कि सहसा विस्मृत हो जाता है...यह तथ्य कि बातें इनसानों से हो रही हैं या पेड़-पौधे, लता-गुल्मों, हिरन-चिड़िया से...। इसे विरह की चरमावस्था ही कहना चाहिए, जिसमें व्यक्ति व्यावहारिक विवेक भूल जाए।

हम मनुष्य—पूर्व और पश्चिम की प्राचीन और समृद्ध संस्कृतियों के वाहक, तमाम ज्ञान-भंडारों के मालिक...संसार के तमाम सार-तत्त्व को अपनी छिगुनी उँगली पर धारण करने का दंभ भरने वाले—हम मनुष्य। क्यों हम इतने भावुक, विवेकहीन और अबोध लगते हैं...जब टूटने, छूटने और अलग होने, बिछुड़ने का मुहूर्त आता है।

वो कौन से मुहूर्त होते हैं, जब यह नित्य अनुभव रागबद्ध होकर हमें चीरता है, छीलता है, लुहूलुहान करता है—हम खुले घावों के साथ, कई बार हँसते हुए तो कई बार व्यावहारिकता या दुनियादारी का मलहम लगाते हुए...उसे पार करने की कोशिश करते हैं, कभी-कभार कोई पार भी कर लेता है।

पर मसाता तो नहीं कि तटस्थ हो जाएँ और कहें कि क्या जीवन, क्या मृत्यु...क्या मिलना, क्या बिछुड़ना ! हम दार्शनिक भी नहीं कि कहें यह सब

प्रतीति है। हम सब ज़्यादा-से-ज़्यादा कवि हृदय हैं। हमें परम सत्ता भी तभी अनुकूल आती है, अपनी-अपनी लगती है जब वह हमारी तरह प्रकृति बन जाती है। हमारे सुख-दुःख में शरीक हो जाती है।

उद्धव के साथ जमुना-जल में आधे मुरझाए कमल को देखकर परम पुरुष कृष्ण बेसुध हो गए—कि राधा की याद आ रही है। ये नाटकीयता बड़ी ग़ज़ब की है। उद्धव हक्के-बक्के मुँह बाये खड़े सोच रहे हैं कि ये त्रिलोकनाथ, परम परमेश्वर किस माया में पड़ गए। राधा से जुदा होना या गोकुल से जुदा होना कृष्ण के भीतर टीस जगाता है—ये केवल कवि की आँख ही देख सकती है, कवि का हृदय ही महसूस कर सकता है। या फिर, राम लता-गुल्मों से बातें करें—हमें मंज़ूर है। उनकी अतिशय भावुकता सर-आँखों पर—हृदय पर। कल्पना कीजिए कि यही राम, सीता-हरण प्रसंग के बाद मौन, मंद मुसकान के साथ कहते या इशारा करते कि...यह रावण की मौत है, सीता-हरण तो बहाना है या लक्ष्मण के आहत होने पर उन्हें अपने चमत्कार से ठीक कर देते...संजीवनी-बूटी का प्रसंग घटित ही नहीं होता...न हनुमान उड़ते, न पूरा पर्वत ले आते...तो हम रामायण पढ़ते ही क्यों...हमारे अपने राग-विराग इन परम पुरुषों के चरित्र में शामिल होकर कैसा अद्भुत रंग लाते हैं। जीवन पा लेने के बाद मृत्यु तय है, फिर मोह में बँधते हैं क्यों हम ?...यह तो गोया यों पूछना हुआ कि क्यों जीते हैं हम...?

मज़ा इसी बात में है कि हम जानते हैं राम त्रिलोकनाथ हैं, परम सत्ता हैं, स्वयं राम भी जानते हैं...पर इस जानने के बावजूद भी उनका गिला, उनकी कोशिशें...हनुमान द्वारा सीता को संदेश भिजवाना...आदि के हम साक्षी बन जाते हैं। प्रफुल्ल हृदय से साक्षी बन जाते हैं।

यही तो कौतुक है हमारे इस जीवन का कि उसका केंद्रीय यथार्थ जानते हुए भी हमीं उसके साक्षी बनते हैं—उतने ही अनजान अबोध साक्षी, जितने कि सीता को ढूँढ़ते राम !

हमें परम सत्ता का केवल यही रोल पसंद नहीं कि वह माया का प्रसार करे—हम यह भी चाहते हैं कि झूठे ही सही, पर वह माया से आवृत्त हो...हमारी तरह टूटने, छूटने और बिछुड़ने का दुःख सहे।

फ़र्क़ इतना है कि वे वीतरागी...लीला समेटते हैं—हम मृत्यु की लीला में लिपटे...भी लालसाओं से घिरे होते हैं—प्रायः सारी ज़िंदगी अपने घावों को पोसने...सहलाने-चुमकारने में ही व्यतीत हो जाती है। अपने पति-पुत्रों, पत्नियों, प्रेमिकाओं-प्रेमियों के लिए विलाप करते—उन्हें जन्मांतरों के लिए

चाहते हुए...यह भी एक हद तक समझ में आता है कि डोर आत्मजों के साथ बँधी है।

पर कई बार तो अनजानों से ऐसी डोर बँधती है कि मोक्ष-वंचित हो जाते हैं। फिर वो हरिण-शावक हो या बैठे-बिठाए जागा घर-गृहस्थी का मोह। वो कौन-सी कमज़ोरियाँ हैं, जो असावध मन पर क़ब्ज़ा कर लेती हैं। मोक्ष-द्वार तो ठीक सामने दिख रहा था कि हृदय को बाँधने वाला मोड़ सहसा उभरता है—एक औचक सुबह...ढेर सारे हरसिंगारों से नहा उठती है। उसकी .ख़ुशबू इस क़दर आत्मा तक बैठ जाती है कि हम .ख़ुशी-.ख़ुशी जन्मांतरों तक के लिए भटक जाते हैं। पर यह भटकना भी आत्म-सुख के लिए होता है, पर सुख के लिए नहीं। पर सुख गाहे-बगाहे सध जाता है।

ओफ़...मैंने तय किया था कि कोई ऐसी-वैसी बातें नहीं कहूँगी कि लगे बड़ी दूर की हाँक रही हूँ। क्योंकि हम जैसे ही परम सत्ता को बीच में ले आते हैं, वैसे ही हमारी सोच का पोत अत्यंत महीन और दुरूह हो जाता है—कुछ मूल्यवान-सा भी लगने लगता है।

जबकि सच बात तो ये है कि जब ये 'टूटने' की बात मेरे मन में उठी थी तब बहुत ही सामान्य, सहज, डाउन टु अर्थ बातें और अनुभव मेरे भीतर थे। एक रोमांटिक और ग़ैर-ज़िम्मेदार 'प्रेम' में अनुभव होने वाली जुदाई की तरह मामूली और उम्र के साथ भूल जाने वाले अनुभव की तरह की बातें। वृद्ध माता-पिता का बच्चों में बँट जाने या अबोध बच्चों का माता-पिता के बीच पारी बना लेने जैसे क्षुद्र स्वार्थ और सेंसेशन से भरे अनुभव...पर बात इस सिरे से न निकलकर परम सत्ता के छोर तक कैसे पहुँची ?

...सोचने पर सारा दोष कबीर साहब का लगता है। जब सोच के शुरू में उन्हीं की पंक्तियाँ आ गईं तो मैं क्या कर सकती हूँ। असल में जैसी और जितने दम की पहली परवाज़ होगी, उतनी ही ऊँचाइयाँ मापी जाती हैं, उड़ान में।

इससे भी बड़ी एक बात है कि सहसा किसी क्षण हम पाते हैं कि उम्र अब सोलह की नहीं रही है। टसुए बहाना, हाय-तौबा करना और दुनिया-भर की अलामतें अपने ही गिर्द देखने की व्यर्थता बिजली की तरह कौंध जाती है ज़ेहन में...फिर चाहे मजे के लिए गुज़री हुई उम्र को थामने की ज़िद से ही सही, या लोगों को भुलावे में डालने के लिए ही सही—हम वैसा करें...

पर अग्नि की अखंड लौ की तरह चुपचाप, पर प्रखरता के साथ यह बात हमारे भीतर खुद जाती है कि जुदा होना ही सहज है। लगे रहना, बँधना असहज और प्रकृति के अनुरूप नहीं। हम प्रकृति हैं, परम सत्ता नहीं। अलग होंगे, जुदा होंगे, टूटेंगे तो जिएँगे। जीने के लिए, होने के लिए ही यह टूटना है। एक का टूटना, दूसरे का होना है।

माँ अपने अंश को अपने से अलग करती है, वह टूटती है, और बच्चे का, नए जीव का जन्म होता है।

एक तीखा और सर्वथा नया स्वर अँधेरे के गर्भ से निकलता है—टें हो—एक ताज़ा चमकता हुआ मोर-स्वर...तमाम मटमैले रंगों को तोड़ता हुआ उभरता है, उन्हें अपनी आभा से चमकाता है। काई को तोड़ता हुआ एक कमल का फूल खिलता है। बहुत कुछ टूटता है रात के अँधेरों में, जब उगता है एक केसरिया बाल-सूर्य।

'धार इसी तरफ लौटती है—फूल की पंखुड़ी फिर फूल में इसी मानिंद लगती है और चूमता है—धूल का फूल कोई—आहा।'

नया वसंत

भीड़ और अकेलेपन में द्वैत को जो समझ सकता है, वही जीवन के यथार्थ को भी जान सकता है। अकेलापन एक रोमांचक ख़ामोख़याली भी है अपने को साहित्यकार कहने वालों के लिए। साहित्य में वर्षों तक 'अकेलापन' एक फ़ैशन बन गया था। लेकिन जो जानते हैं उन्हें मालूम है कि अकेलापन तलवार की धार पर चलना है। सँभले नहीं कि कटकर द्वैत की स्थिति में आ जाता है इनसान। अकेलेपन के सिरे से जुड़ा द्वैत व्यक्ति को कहीं का नहीं रख सकता। जब इस अकेलेपन से रू-ब-रू होने की नौबत आती है तो अच्छों-अच्छों की आ बनती है। मानो पहली बार यह ख़याल भी आता है कि क्या वास्तव में हम अकेलापन चाहते थे। सबके बस की बात नहीं है ये।

अकेलापन रचनात्मकता की पहली शर्त है। इनसान अंदर से जबकि निपट अकेला नहीं होता, रच नहीं सकता। अकेला। निःसंग। ऋणिवत्। बाहर चाहे भीड़ से घिरा हो; लगातार उसे लगता रहे कि व्यर्थ है भीड़ में अपने को मिला लेना। भीड़ का तो स्वभाव ही है, अधिक-से-अधिक को जोड़ते चले जाना, भीड़ बनाते जाना। पर रचना भीड़ का काम नहीं। पहली बार भीतर जब प्रश्न उठता है कि अकेला बनें या भीड़ का हिस्सा बन जाएँ

...बहुत अहम् होती है यह द्वंद्वात्मक स्थिति। जो भाव, जो विकल्प जीतेगा, वही तय करेगा हमारा भविष्य। या तो भीतर का अजन्मा कलाकार जन्म लेगा या जीवन फिर माया में लौट जाएगा।

लेकिन क्या सत्य से माया की ओर लौटना संभव है ? हाँ, यह विशिष्ट से सामान्य जीवन की ओर लौटना है। यह रचना से विपरीत दिशा की ओर जाना है।

लेकिन आम आदमी का सत्य से माया की ओर लौटने की संभावना वाला ख़याल ही क्या इस बात का द्योतक नहीं कि सत्य का साक्षात्कार एक प्रेम था ?...पर जो हमारी साँस का हिस्सा बन चुका हो, वह प्रेम कैसे हो सकता है ? क्या माया की पैठ इतनी गहरी है कि साँस में इस क़दर घुल जाए ? साँसों में जब घुल जाती है माया तो जन्मांतरों तक पीछा नहीं छोड़ती।

अंदर तक खिल गया है एक फूल सारी रंगो-ख़ुशबू के साथ, पर ऊपर से मीलित। जैसे एक स्पर्श से बाहरी पंखुड़ियाँ भी अपना अवगुंठन खोल देंगी। स्पर्श से नहीं। स्पर्श से तो पंखुड़ियाँ भीतर-ही-भीतर खुली हैं। अब तो अपनी जड़ों से ही, भीतर से ही जो ऊर्जा बीज को अंकुरित करती है, वही मेरे भीतर विस्फोट करेगी और खिल जाएगा वह फूल...जो भीतर-ही-भीतर महक रहा है। उसकी महक मेरे भीतर एक घबराहट भी पैदा करती है इस बार। उसके रंग मेरे भीतर चंपा बनकर फैल जाते हैं।

यह चंपा क्यों नहीं खिला मेरे भीतर पंद्रह वर्ष पूर्व। गुलाब ही खिल जाता !! अगर खिल जाता, तब तो आज अपने भीतर रंगारंग समुद्र में नहाते हुए भी एक कचोट का अनुभव नहीं होता। वक़्त बीत जाता है, हम अपने को बहुत बाद में पा सकने की स्थिति में आते हैं।

बहुत बाद में आती है हवा...वासंती बयार। बहुत बाद में आते हैं रंग होली के...होली के रंगों की पहचान धुँधली हो जाती है जब...तब एक होली ऐसे रंगों में सराबोर करती है कि दिशाएँ यहाँ से वहाँ तक कभी सूखती नहीं, बेरंग या बदरंग नहीं होतीं...निथरी रहती हैं, रंगीन दिशाओं में रंगीन अंतरंग लिये...ऐसे में अगर रंग छुप नहीं सका तो ? यही तो जनाब, प्यारे, कि रंग को मैला रंग क्या लगे ?

लेकिन रंगों का भी तो ऐसा है कि अगर घुलने वाले हों या मिलने वाले हों, तो एक-दूसरे को समो लेते हैं अपने भीतर...एक-दूसरे को नई आभा से, नए ओज से नवाज़ते हैं। नई पहचान देते हैं, पाते हैं। अन्यथा एक-दूसरे को धब्बा लगाते हैं। ऐसे कि बदरंग से जान पड़ते हैं, बेमेल-से।

सब रंगों से छनकर जब एक चंपई रंग आपके चेहरे को छा ले, तो क्या समझेंगे आप ? उस चंपई रंग के स्रोत का पता लगाना ज़रूरी है ? शायद नहीं। क्या ज़रूरी है कि सुबह-सुबह चहकती चिड़िया की स्वर-लिपि हम खोलें ही खोलें ? क्या यह काफ़ी नहीं कि खुला आसमान है, हवा है, वसंत है, चिड़ियाँ गा रही हैं...कोई सुने न सुने। आपने सुना, यह अच्छी बात है। यों भी आजकल अच्छी बातें हर किसी के साथ होती कहाँ हैं....? आप सचमुच भाग्यशाली हैं।

रंग जब पहली बार अपनी ओर से बोलते हैं, तो जीवन पूरा बदल जाता है। जीवन बदलता है यह कहना कहाँ तक संगत है, नहीं जानती। यह प्रश्न हमेशा रहता है कि हम बदलते हैं या जीवन। यहाँ उत्तर पा लेने की कोई जल्दी नहीं है...या चिरकौतुक है।

एक नया वसंत मैंने साँस भर अपने भीतर लेना चाहा है। 'फिर बाल-वसंत आया'...यानी वसंत अपने बालपन में रहे। न यौवन पाए न बुढ़ा जाए। क्योंकि वसंत जब बुढ़ाता है, तो पतझड़ से भी अधिक करुण हो आता है। बालपन की निश्छलता और अल्हड़ता जब वसंत का विशेषण बनें, तो वह एक ऐसा चिर-शाश्वत क्षण है, जिसे केवल रचनाकार ही सँभाल सकता है !!!

जैसे श म शे र !!!

मोर कहीं बोला

सपने...सपने...सपने...कई तरह के सपने, कई-कई बार कइयों को आते हैं...मुझे भी।

अजनबी जगहों से गुम हो जाना...जानी-पहचानी जगहों में बार-बार भटकना, अँधेरा, आवाज़ें, ठहरे जल-स्रोत, बहती जलधार, बाढ़, तबाही और खुले नदी-समंदर, मौत, भयावहता, घने-घुप्पे पेड़, डाकिनी-शाकिनी, भय, सडांध, मेला...कहीं जादू-चमत्कार, इंद्रजाल, अद्‌भुत पूर्वजन्म की यादों-से रास्ते जो बार-बार चले हुए लगते हों—मेरे सपनों में आकर मेरे संपूर्ण 'होने' को झकझोरते हैं।

इन सारे दृश्यों में मोर मेरे साथ बचपन से अब तक रहा है। जीवन में भी और सपनों में भी।

जिस दृश्यफलक का मैं एक आकार हूँ, उसी का मोर भी है। ठेठ बचपन से ही। मैं जहाँ रहती थी वह घने वृक्षों, वनलताओं का परिसर था जंगलनुमा (सरकारी उपवन) वहाँ मोर बहुत थे। एक सूखे हौज़ के चारों तरफ़ क्यारियों में बंद पानी और घने बेतरतीब पेड़-झाड़-झंखाड़। कई तरह की आवाज़ें मुँह-अँधेरे या शाम के झुटपुटे में हमारे भीतर जंगल का बोध कराती थीं। वहीं झीने प्रकाश में कहीं दिखते, कहीं लुकते-छिपते मोर मेरे अंदर उग गए हैं।

बचपन में देखा गया सभी कुछ 'यूनीक' और 'सहज' एक साथ होता है। जो आह्लाद गौरय्या की फुदक या आइसक्रीम क्रिस्पर्स या जंगली बेलें या लटकते, झूलते अमलतास और बिखरे शिरीष देते—वही कौतुक मोर भी जगाता। बचपन के देखे हुए दृश्यों में रेखांकित किया हुआ कुछ भी विशिष्ट नहीं होता, क्योंकि सभी कुछ विशिष्ट होता है।

हम कई वर्षों तक वहीं रहे, पर उम्र के साथ-साथ ये चीज़ें नए-नए पर्दों में ढँकती चली गईं। जीवन सीमित होने की प्रक्रिया में आता रहा और मोर नींद के पर्दों के पीछे सपनों की दुनिया का हिस्सा बनते चले गए।

फिर दौर आया, जीवन-क्रम संगठित होने का। तब भी मोर आते थे हमारे बाग़ में—पर तब बचपन ताज़ा हो जाता था—बस्स !

जीवन अब जब ढलान पर उतर रहा है, तब सबसे पहले मोड़ पर खड़ा मिला...मोर।

मोर के रंगों की चमक जैसा जीवन तो बीत गया पर अब तो चारों ओर साक्षात् मोर हैं। बचपन का वही सहज-कौतुक, यौवन की बेतहाशा रंगीन चमक और ढलती उम्र की समझदारी और सतर्कता लिये हुए ये मोर मेरी ज़िंदगी, बल्कि हमारी ज़िंदगी का हिस्सा हैं।

शायद क़ुदरत का यही एकमात्र करिश्मा ऐसा है जो न मन को, न आँखों को कभी थकाता है, न ही आश्चर्यबोध को फीका और मामूली बनाता है। तभी मुझे लगता है शायद प्रकृति में मोर से अधिक सुंदर कुछ भी नहीं। या अगर मुझे किसी को मुकम्मिल सौंदर्य का उदाहरण देना हो, तो मेरे सामने केवल मोर ही आता है।

जितना अधिक मैं सोचती हूँ, उतना मेरा भरोसा दृढ़ होता जाता है कि मोर से अधिक परफ़ेक्ट मुकम्मिल कुछ नहीं—जहाँ सौंदर्य का प्रश्न है। उसका आकार, संतुलन, मुद्रा, स्वर, लीला—सभी कुछ न्यारा है। और सबसे बड़ी बात यह है कि आप उसे हर बार उतना ही महत्त्व देते हैं—कभी ऐसा नहीं होता कि हाँ, मोर आया है...।

आज इतने वर्ष बीत गए हैं कि लगातार सुबह-शाम दोपहर मोर देखती हूँ, तब भी वह नया-नया बनकर मेरे मन में उभरता है।

मोर के पाँवों को असुंदर कहा जाता है। पर ऐसा है नहीं। विरोध भी सौंदर्य का एक मापदंड है। पूरी देह का गदबदा रंगीनपन अगर ध्यान आकर्षित करता है तो पाँवों के कारण। पीले-सफ़ेद से हड्डी रंग के पाँव। ...फिर देह का वज़न व सौंदर्य का भार उठाने के लिए सक्षम पाँव देना

भी तो क़ुदरत का फ़र्ज़ है। फ़र्ज़ कीजिए, उसके पाँवों में भी पंखों का वही रंग व गदबदापन होता तो पूरी देह का सौंदर्य क्योंकर हमारी आँखों में बसता ?

सौंदर्य को जो समझता है, वह मोर के पाँवों की उठान देखेगा। मोर को चलते हुए एक पाँव उठाकर क्षण-भर के लिए ठहरा हुआ—देखा है आपने ?

एक पाँव ज़मीन पर टिका हुआ, एक उठा हुआ, गरदन टोह लेती हुई—आँखें बेतरह सजग—पंखों में उड़ान समोई हुई—कभी तो शोर करता हुआ ऊपर की ओर उड़ेगा, कभी सारा तनाव ढीला करते हुए—दोनों पाँव टिका देगा—ज़मीन पर। इस सौंदर्य का आधार तो वे मज़बूत पाँव हैं। और फिर इन पाँवों पर ही तो वह सोता है। पाँवों पर मोर अपना पूरा शरीर तसल्ली से टिका देता है। पूरे पंखों वाले मोर का वज़न कम नहीं होता—तिस पर शोभा का भार !!!

रात को मोर पेड़ों पर सोते होंगे। पर कभी दिन में, दोपहर के समय मोर को आराम करते देखा है ? पेड़ के अलावा...? एकांत में, पेड़ों-झंखाड़ों के बीच अपने पाँवों को मोड़ पेट को ज़मीन से टिका, पंखों को ज़मीन पर फैला—गरदन को आराम में लाते हुए चुपचाप, निश्चल बैठा...वामकुक्षी—?

जब बच्चे होते हैं ये मोर, तब कहीं पर भी, मुँडेर, दीवार या दरवाज़े पर इसी तरह बैठ जाते हैं।

पाँव जो आराम देते हैं, शरीर को आधार देते हैं, सौंदर्य-भरी देह को—वे असुंदर...? तो फिर सुंदरता का मतलब हुआ—लुभावना...अच्छा...ख़ूबसूरत दिखना।

सुंदरता 'दिखने' में है या 'होने' में ?

पता नहीं ये ऐसे प्रश्न क्यों मुझसे बार-बार टकराते हैं। मैं 'मोर' को ही ध्यान में रखूँ (शाश्वत व व्यावहारिकता के मूल्यों को नज़रअंदाज़ करते हुए) तब भी यह प्रश्न मेरे अंदर जागता है कि तमाम पक्षियों में मोर में ऐसा क्या है कि मैं दिवानी हुई फिरती हूँ। पक्षी तो फिर पक्षी है। फ़ाख़्ता भी बड़े प्रभावित करते हैं।

एक दिन अपनी माँ से हमने उनका मराठी नाम पूछा—तो उन्होंने कहा—'पता नहीं कहते होंगे कुछ, पर ये (फ़ाख़्ता) है 'मिस्टर टिपटॉप'।' आपने फ़ाख़्ता को देखा हो, तो तुरंत समझ जाएँगे। उजला नीलापन लिये हुए राख रंग—बेडौल भी नहीं, न गदबदा ही—कबूतर की मानिंद और गरदन पर एक काला-सा वृत्त—जैसे बो-टाई पहन रखा हो। जब उड़ते वक़्त पूँछ

खुलती है तो किनारे पर काले रंग की बोर्डर-सी छप जाती है, जैसे सुर्ख़ाब के पंखों में चटक गुलाबी पट्टी होती है।

फिर तोते भी तो कम करामाती नहीं होते...हरे-लाल का कैसा संयोजन, उनका सिर घुमाना, उनका बोलना...सब-कुछ। इन सब पक्षियों की गरदनें दबी हुई होती हैं—हालाँकि सुर्ख़ाब की नहीं। पर अकेली गरदन ही तो सुंदरता तय नहीं करती। हाँ, उसके कारण मुद्राएँ बड़ी गजब की बनती हैं।

मोर की गरदन, जैसी लय और अदा से चारों तरफ़ घूमती है, आस-पास की हवा बँध जाती है गोया। धूप में चमकती हुई नीली लोचदार गरदन अगर हमें बाँधे, तो आश्चर्य क्या ? सौंदर्य बाँधता है, अभिमंत्रित करता है।

मोर की आँख तो हमेशा अभिमंत्रित-सी ही होती है। जो ख़ुद इतनी सुंदर है, न जाने किसे देखकर अभिमंत्रित होती है। उसकी आँखों में एक साथ अभिमंत्रणा एवं सजगता रहती है।

कहीं भी कोमलता नहीं होती—मोर की आँखों में। एक तीखा-पैना भाव उन बड़ी-बड़ी आँखों में सतत रहता है—और हम अभिमंत्रित भी होते हैं—वह हमारे भीतर भय भी जगाती है—अगर एकदम रू-ब-रू आ जाती है। और फिर सिर पर ताज प्रकृति का ही पहनाया हुआ। कोई चुनाव नहीं, कलश ढुलकाना नहीं। जैसी कहावत है न, born with a silver spon तो ये जनाब blessed with a crown on its head हैं।

यों कलगी तो मुर्ग़ी को भी होती है—कुछ एक जाति के कबूतरों को भी—पर मोर तो 'ताज' पहनता है। शुरू में बेतरतीबी से उगी यह कलगी ...धीरे-धीरे तरतीब पाती है। नर-बच्चों की कलगी धीरे-धीरे रंग पकड़ती है। हर पंख का सिरा धीरे-धीरे अँखियाता है...सिर पर उगी पतली सींकनुमा पर खुली छोटी-सी आँख की एक क़तार...आठ-दस...बारह। उसकी लोचदार गरदन की हर गति, हर मुद्रा के साथ क्या शान से हिलती है।

मोर में जो बात मुझे सबसे अधिक वास्तविक लगती है वह यह है कि it takes time to become a peacock, जन्म से ही मोर सुंदर नहीं होता। वह धीरे-धीरे सौंदर्य पाता है। धीरे-धीरे उसकी पहचान बनती है। मटमैले-भूरे और अति-साधारण रंगों में से वही चमकदार, मुलायम ऐंद्रजालिक तरतीबियत उभरती है, जो मोर को बेइंतिहा ख़ूबसूरत बनाती है। बहुत शुरू में तो पता भी नहीं चलता कि नर कौन, मादा कौन। वैसे शायद यही बात गौरय्या में भी है, पर नर गौरय्या, मोर थोड़े ही है। मोर के अंदर की और उसकी चारों तरफ़ की प्रकृति उसे ये रंग और संयोजन देती है। असल में

अंदर की प्रकृति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बाहर चारों तरफ़ घूरा भी है, उपवन-जंगल भी है, गंदगी बहाते नाले भी हैं और साफ़ बहती नदियाँ भी। जो कुछ ग्रहण होता है, अंदरूनी बुनावट के तहत ही।

यों मोर को धीरे-धीरे बनते हुए देखना यानी सौंदर्य की प्रक्रिया से इस तरह गुज़रना कि उसी का एक अंश हो जाना...

और फिर सहसा—

'दूर कहीं से मोर बोलने लगते हैं—पीयूऊऽऽ-पीयूऊऽऽ—उनकी हीरे-नीलम की गरदनें चमकने लगती हैं और कहीं रुकी हुई नींद को पूरा करते हैं—सपने—सपने—सपने—सपने।'

आईने पर थूकना

उस दिन एक मित्र के साथ स्कूटर पर जाते हुए अचानक एक महिला ने हाथ हिलाकर हमारे मित्र को आवाज़ दी। मित्र ने स्कूटर रोका। समाचारों का लेन-देन हुआ, मैंने उन्हें व उन्होंने मुझे आपादमस्तक देखा, परिचय हुआ और हम चल दिए। स्कूटर शुरू होते ही मैंने टिप्पणी कसी—'ये बड़ी रँगीली लगती है।' मेरी बात का समर्थन करते हुए मित्र ने बताया कि उन महिला को इसी 'उपनाम' से बुलाया जाता है। मानो अपनी टिप्पणी मुझे काफ़ी नहीं लगी कि मैंने जोड़ा—'स्वभाव की अपेक्षा स्वार्थवश रँगीली लगती है।' मित्र ने मेरी बात का समर्थन किया।

क्या ठीक यही बात या ऐसी ही कोई बात महिला ने मेरे व मेरे मित्र के बारे में नहीं सोची होगी ? यह विचार आते ही मैं चौंकी। यह तो मैं जानती हूँ या मुझसे मिलने-जुलने वाले, कि मैं वास्तव में कैसी हूँ। किंतु एक तीसरे व्यक्ति के लिए मुझमें व उस 'रँगीली' में ज़्यादा अंतर नहीं है, क्योंकि बाहरी स्थितियाँ तो लगभग समान हैं।

आप किसी एक या एकाधिक मित्र के साथ अलग-अलग स्थानों या समयों में पाई जाएँ, तो आपके बारे में ऐसा सोचा जाना बहुत स्वाभाविक है। यह कोई नई बात भी नहीं है, न ही अजीब। बड़े शहरों में प्रायः इस

तरह की महिलाएँ 'पेशेवर' समझी जाती हैं या कम-से-कम 'सहज सुलभ' तो समझी ही जाती हैं। नैतिकता-अनैतिकता, भ्रष्ट आचरण व खुलापन—ज़्यादा अंतर नहीं रह गए हैं आम लोगों के मन में इन संज्ञाओं के ! आप जिसे 'मित्रता' कहते हैं, दूसरों के लिए वह मित्रता न भी हो। हमारे एक साथी कह रहे थे कि शब्द की स्थिति बदली नहीं जा सकती है, अर्थघटन आप चाहें जो कर लें। तो इस संदर्भ में 'मित्रता' के कई अर्थ हो सकते हैं।

हमारा समाज बहुत आगे यों भी नहीं बढ़ा है—स्त्रियों के मामले में। समाज में पैसे कमाने के संसाधनों का जितना विकास हुआ है—उसी के इर्द-गिर्द स्त्री की स्थिति मानी जा सकती है। वह पैसा कमाने का साधन तो बन ही चुकी थी, अब बेहतर साधन है। यों भी टू-इन-वन, थ्री-इन-वन, फाइव-इन-वन, एट-इन-वन के दौर में स्त्री तो अनंत संभावनाओं वाला साधन है। उसकी गुणवत्ता साधन के रूप में अधिक मान्य हुई है—लगभग ! उसकी प्राप्यता भी बढ़ी है। फिर तलाक़, मैत्री क़रार या इस तरह की स्थितियाँ सहूलियतें भी पैदा करती हैं।

किसी बेहद शरीफ़ लगने वाले वातावरण में राजनीति, साहित्य, संस्कृति, नीति की चर्चा करते हुए भी, मानसिक स्तर पर आख़िरकार वही करें—अपनी स्त्री-मित्र या अपरिचित स्त्री के संग, उसके जाने या अनजाने। आपकी सारी बौद्धिकता वहीं आकर दम तोड़ती है, जहाँ वह पहले से पहुँचना चाहती है, रही है।

तभी मन में यह प्रश्न हमेशा उभरता है कि व्यावहारिक स्तर पर समानता की यह लड़ाई कितना और कहाँ अर्थ रखती है ? पर लड़ाई तो जारी रखनी ही है। इतना ही कि हम बहुत भ्रम में न रहें, अपनी स्थिति के बारे में।

सारा खुलापन, सारा विकास, सारी बौद्धिकता व्यर्थ है, अगर आप स्त्री को सही अर्थों में व्यक्ति न मान सकें तो। अब भी मिल जाती है वह सहज ही नंगी किए जाने के लिए खुलेआम, या उठा ली जाती है ब्लू-फिल्म बनाने के लिए या ऐसा बहुत-कुछ। यह सब छोड़िए, सर्वोच्च संसद की सदस्या चुन लिए जाने पर भी छेड़खानी से बाज नहीं आते उसके कलीग-साथी। हो-हल्ला होता है, विरोध होता है, यह दीगर बात है—पर अब भी मानसिकता में कोई बहुत अंतर नहीं आया है।

स्त्री को व्यक्ति मानने संबंधी सैद्धांतिक आपत्तियाँ तो नहीं हैं, पर व्यावहारिक स्तर पर कई तरह की आपत्तियाँ हो सकती हैं। उसकी तफ़सील में न जाकर अगर हम व्यापक समाज में देखें, तो पाएँगे कि 'एक अकेली

लड़की' आज भी अपने आप को उतना महफ़ूज़ नहीं पाती जितना कि उसकी उम्र, स्थिति में एक अकेला लड़का। मैं जानती हूँ 'एक अकेला लड़का' सुनते ही बड़ा हास्यास्पद लगता है, बल्कि हँसकर भूल जाने योग्य समझा जाता है। आपकी तरफ़ लोग हैरत से, अजीबोग़रीब नज़र से देखने लगेंगे। पर 'एक अकेली लड़की' सुनकर नहीं।

हमारी एक फ़ेमिनिस्ट मित्र है, जो अकसर कहती है कि कोई ज़रूरी नहीं कि समानता के चक्कर में स्त्री मर्दाना बन जाए। वह स्त्री की तरह ही रहे। उसकी इच्छा हो तो सजी, पर भीतर से सँवरी। उसे शृंगार आदि से परहेज़ नहीं करना चाहिए।

यों भी, सौंदर्य के प्रति अतिरिक्त सजगता इस दौर में यही स्वाभाविक और सहज भी है। स्त्री क्या, पुरुष तक एक-दूसरे से होड़ लेता लगता है। शृंगार व सौंदर्य के जितने उपादान पुरुष के लिए बन रहे हैं, उनकी गिनती अब आसान नहीं रह गई है। सौंदर्य के प्रति सजगता तो हमारे दौर की माँग है। सौंदर्योपचार के इतने साधन व सुविधाएँ उपलब्ध हैं कि किसी का 'मर्दाना' ढंग से रहना पिछड़ापन ही कहा जाएगा। हमें अपने महिला होने में गर्व अनुभव करना चाहिए। हमें अपनी कोमलता व दृढ़ता पर एक साथ गर्व होना चाहिए। मैं बेहद प्रभावित हो जाती हूँ ऐसी बातों से—कैसा अच्छा लोक होगा वह !!! लेकिन मैं जानती हूँ, हम कुछ स्त्रियाँ ऐसा मानती हैं। बहुसंख्यक पुरुष और महिलाएँ (बहुसंख्यक ही) भी, क्या सोचती होंगी ?

मुझे याद है कि एक बार मैं ट्रेन में सफ़र कर रही थी। पास ही एक 18-19 वर्ष की लड़की बैठी थी (दक्षिण-भारतीय थी वो)। उसने अपने बालों में मोंगरे या ऐसे ही किसी ख़ुशबूदार फूलों का गजरा डाल रखा था। उसकी महक लगभग मदहोश करने वाला प्रभाव रखती थी। मैं परेशान हो गई। लड़की बहुत सुंदर नहीं थी। पर उम्र का सौंदर्य तो था ही। फिर बहुत सजी नहीं थी। लेकिन फूलों की ऐसी मादक खुशबू !! मैंने सोचा पास में कोई पुरुष बैठा हो, कोई आश्चर्य नहीं कि अनचाही हरकत करने का उसका मन हो आए। सजी हुई स्त्रियाँ अगर सुंदर भी हों, तो कहर ढाती ही हैं। आप तुरंत कहेंगे कि इसका मतलब तो यह है कि आप स्त्री को उसके मूलभूत अधिकारों से वंचित रखना चाहती हैं। उसे बंधन में डालना चाहती हैं। नहीं, ऐसी बात तो नहीं है। पर स्त्री को 'चीज' मानने की मानसिकता के बदलने के अभाव में यह संभव नहीं लगता कि वह सजी भी रहे और 'व्यक्ति' भी कहलाए। इस तरह का फ़ेमिनिज़्म पता नहीं कितना और कहाँ तक काम

आ सकता है। पुरुष बड़ा चालाक होता है, क्योंकि वह ऐसी स्त्रियों को पता ही नहीं चलने देता कि वह कहाँ और कैसे उनका उपभोग कर रहा है। यों भी स्वभाव से पुरुष फ्लर्ट करना पसंद करता है। ऐसा मेरे एक कलीग का 'इक़बालिया बयान है।'

आप कहेंगे कि इसका मतलब तो यह हुआ—औरत जीना ही छोड़ दे। न, बल्कि वह इस भ्रम को तोड़ दे कि अगर बौद्धिक स्त्रियाँ सजी-सँवरी हों तो भी पुरुष तरजीह उसकी बौद्धिकता को दे, सजे-सँवरेपन को नहीं। सजे-सँवरेपन को तरजीह दिए जाने पर आपत्ति हो ही, ऐसी बात ही नहीं है। पर फिर बहुत जल्दी बौद्धिकता महत्त्वहीन हो जाती है। यों भी सामान्य तौर पर, सामान्य जीवन में, स्त्री अगर रूप की बेहद चर्चा करती है, तो वही काफ़ी मान लिया जाता है, बाज लोगों द्वारा।

आप सहज रूप से भी, स्वभाववश हँसकर देख लें, तो भ्रमजाल बनने लगते हैं। बात करना और घर में आमंत्रित करना तो ख़तरा मोल लेना है। ज़ाहिर है, मैं एक अकेली स्त्री की बात कर रही हूँ। परिवार में रहती स्त्रियों की स्थितियाँ दूसरी तरह की होती हैं।

जीवन में लंबे समय तक स्वतंत्र रहने के बाद अनुभव होता है—यह सत्य रू-ब-रू कि जिसे आप अपना बौद्धिक मित्र मानते रहे थे, एक मित्र के स्तर पर राजनीति पर बातचीत, चर्चा करते रहे थे, चर्चाओं में सीमा नहीं बाँधी थी, वह दस जगह चटख़ारे लेकर आपसे अपनी मित्रता व निकटता बताता फिर रहा है (खुलापन जनाब, रूस में भी सफल नहीं हुआ !!) परिणाम यह होता है कि चार लोग और आपसे 'निकटता' के लिए व्याकुल हो उठते हैं।

अब जैसे स्वेच्छा से लौट आने का मन करता है, चारदीवारी है। अपनी चारदीवारी में। यह प्रश्न जो मुझे परेशान करता है कि क्या हम यहीं तक पहुँचे हैं, क्या अनुत्तरित रहेगा ?

आज भी एक बौद्धिक स्त्री, अगर अकेली है, सजती-सँवरती है, खुले स्वभाव की है...तो स्त्री होने की कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी उसे—मनुष्यता व मानवता की कीमत के अलावा।

मुझे ग्लानि हुई कि एक स्त्री पर मैंने यों टिप्पणी की। यह तो आईना देखकर थूकना हुआ।

वह दरिया है

उस दरिया में अनंत लहरें हैं। एक लहर मैं भी हूँ। पर वो कौन-सा तार था अकेला कि दरिया से निकला सीधा मुझ तक पहुँचा—और दरिया ने बढ़कर मुझे हथेली पर रख लिया। बस, तब से मैंने जाना है कि दरिया, केवल दरिया है।

अपने असली मूड में शमशेरजी का चेहरा अचानक पहाड़ बन जाता है—अबूझ-से, पुरातन-से ! पहाड़—जिस पर कुछ भी लिखा नहीं होता या जिसकी लिखावट अचानक पहचान खो देती है। एक अजीब भय मेरे मन को जकड़ लेता है। अनजानेपन का भय। जिसे पिछले क्षण मेरी आत्मा तक जानती थी, वह अचानक ग़ायब होकर अपने चेहरे के पहाड़ में खो जाता है। कभी-कभी तो बहुत देर बाद लौटता है। वह अपनी दृष्टि में से प्रकट होता है—तब अचानक लगता है कि पहाड़ के चेहरे पर दो निर्मल सोते फूट पड़े हैं। पहचान लौटती है। लेकिन अनजानेपन के क्षण हमारे हृदय में कुछ इस क़दर अंकित हो जाते हैं कि यह कहने का साहस नहीं होता कि 'हाँ, इन्हें जानती हूँ।'

पहचान का जो सिरा मेरे हाथ आया उस वक़्त वो मुक्त नहीं था—लिपटा हुआ था। ये बहुत बाद में मैंने जाना कि ये लिपटा हुआ है उलझनों से—ढेर सारी उलझनों में। ढेर सारी उलझनों में धागे थे—भूतकाल के बिखरे दूर-दूर तक—शायद माँ की मृत्यु तक। उसके पहले की बुनावट तो साफ़-महीन-ख़ूबसूरत और सुथरी ही होगी...यूँ तो जान पाना मुश्किल, पर जब कभी बातचीत के जो टुकड़े वहाँ के आते हैं, उस दौरान मैंने जाना है, महसूस किया है कि उस बुनावट की स्मृतियाँ भी कितनी ताजी और साफ़-सुथरी हैं। तब तो वास्तविक बुनावट क्या चीज होगी। जीवन-भर के निर्द्वंद्व सुखों का अंत वहीं पर आ गया मानो। उसके बाद तो उलझाव आता चला गया। उसे सुलझाने वाला ता-ज़िंदगी कोई नहीं मिला। या फिर उलझे पैटर्न की डिजाइन ही उन्हें इस क़दर पसंद आ गई कि—वही बन गई ज़िंदगी।

मैंने सूत्रों के उलझाव को जितना अलगाना चाहा—एक नया उलझाव पैदा होता गया। सो उस क्रिया को व्यर्थ जान—छोड़ दिया मैंने वह प्रयास। मेरी आँखों के सामने दिख रहे हैं सारे सूत्रों के अलग-अलग सिरे, पर अपने केंद्र में यह उलझाव इतना गहरा और घना है कि उसे निपटाना यानी जीवन को निपटाना...उन्हीं के शब्दों में कहना हो तो उलझन इस क़दर लिपटी है कि :

ये साँस में जो उसी नाम की अटक-सी है,
वो ज़िंदगी से फ़रामोश हो तो क्योंकर हो।

मुझे याद नहीं आता कई बार कि मैंने शमशेरजी की कविताओं पर शोध-प्रबंध लिखा है। कई बार बहुत हैरानी होती है मुझे, जब पलटकर देखती हूँ पिछली तमाम घटनाओं को। अब लगता है कि यह केवल एक बौद्धिक निर्णय नहीं था कि मैंने शमशेर का काव्य-संसार चुना। कोई अनजाना ऋणानुबंध भी था—रहा होगा जरूर वरना...एक ऐसा ऋणानुबंध जिससे मैं नितांत अपरिचित थी। उस ऋणानुबंध का पहला संकेत मिला 4-4-78 को, जब बिंदु ने 'चुका भी हूँ मैं नहीं' की प्रति भेंट की। एम.ए. का अंतिम वर्ष पूरा हो ही गया था, क़रीब-क़रीब। उस वर्ष लघु-प्रबंध लिखा था नरेश मेहता पर। जुलाई से शोध के लिए पंजीकरण भी कराना तय था। कविता पर ही करना था और आदरणीय भोला भाई के निर्देशन में ही करना था। 'चुका भी हूँ...' पढ़ा, अच्छा तो लगा पर कुछ एक कविताओं को छोड़कर ख़ास समझ में नहीं आया...लेकिन एक अजब तौर से ये कविताएँ कुछ छा-सी गईं। फिर एक तरह से तय कर लिया मन-ही-मन कि पंजीकरण करूँगी और इसी

कवि की कविताओं पर। और मानो इतना काफ़ी नहीं था कि विषय तय हो जाने पर उसका एप्रोच भी तय ही कर लिया—आलोचना कृति-निष्ठ होगी, कृतित्व ही, व्यक्तित्व नहीं। एक पृष्ठ बायोग्राफ़िकल सूचनाओं का, बस। लेकिन तब पता नहीं था कि उनके जीवन के उन सारे कोनों-मकों में मैं रह जाऊँगी जो बरसों से खंडहर पड़े होंगे। वो सारे दरवाज़े एक-एक कर खुलेंगे, जिनकी सिटकिनी अनछुई है—जिसे उन्होंने अनछुआ रहने दिया है। खुल-खुलकर दरवाज़ों ने मौन-कथा कह डाली। दरवाज़ों के पार कमरे भी थे—बंद और खुले। आँगन भी थे—पुते और उखड़े। सीलन-भरी धूप भी थी। ये गुनगुनाते धूप के गुनगुनाते टुकड़े भी। हवा भी थी, नहीं भी। जितने ग़ौर से उन्हें देखती हूँ, एकाग्रता से उनके बारे में सोचती हूँ—बार-बार एक ही बिंब मेरे भीतर उभरता है—पंछी का, बड़े, मगर प्यारे से। यों भी शमशेरजी का अंतर पंछीमय है। कई बार भीतर का यह पंछीपना बाहर झाँकने लगता है—और तब उनकी मुद्राएँ, हाव-भाव भी पंछी के-से हो जाते हैं। इन दिनों अपनी घोर बीमारी में भी ये पंछी अपने नितांत प्रकृत भाव से गरदन को थोड़ा हिलाकर चोंच गरदन में रगड़कर, डैने फैलाने की कोशिश करता है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी, अगर मैं कहूँ कि इस पंछीपने के कारण वे बहुत सारी चीजों को झेल पाए...अपने आपको टिका पाए।

और थीसिस मैंने पूरा कर लिया। बस टाइप होना बाक़ी था। इसी बीच शमशेरजी से दो इंटरव्यू भी लिए शोध के सिलसिले में, पर तब भी जीवन संबंधी तथ्यों में रुचि नहीं थी।

शमशेरजी का उज्जैन रहना बहुत महत्त्वपूर्ण रहा एक तरह से, कम-से-कम मेरे लिए तो। मेरा काम पूरा हुआ और एक पृष्ठ की बायोग्राफ़िकल सूचना परिचय में बदलती चली गई। परिचय आत्मीयता में। यह आत्मीयता मेरे व्यक्तित्व का भी हिस्सा बनने लगी, तब मैं भूल गई कि मैंने शमशेरजी की कविताओं पर काम किया है। और सच बताऊँ, कई बार यह भूलना भी अच्छा लगता है।

शमशेरजी से जब परिचय हुआ था, तब की बात है। एक सज्जन (विक्रम विश्वविद्यालय के किसी विभाग के प्रोफेसर, मैं नाम नहीं जानती) ने पूछा

था—ये कौन हैं आपकी—'बेटी', तो शमशेरजी ने कहा था—'नहीं, बांधवी।' कुछ ऐसा ही सवाल पूछा था विश्व कविता उत्सव, भोपाल में घाना के उस लंबे कवि नें, और ऐसा ही कुछ जवाब दिया था कवि ने—'नो, माय फ्रेंड'। तब उस कवि की आँखों में आश्चर्य, कौतुक और आनंद एक साथ झलक उठा था।

हाँ, कौतुक तो है ही; पर ये कौतुक शमशेरजी के व्यक्तित्व का है। उनके व्यक्तित्व का शायद सबसे उत्तम, सबसे आकर्षक और अद्भुत अंश भी यही है कि उनके यहाँ पीढ़ियों का अंतर चुटकियों में ग़ायब हो जाता है। मजे की बात तो यह है कि उनके साथ होते हुए दो पीढ़ियों का अंतर चंद वर्षों में बदल जाता है। अधिक-से-अधिक पाँच-सात वर्ष। अपनी सोच में यह व्यक्ति हमेशा युवा रहा है—और तभी 'युवा-मित्र'। उनके उज्जैन-वास के दौरान अनेक युवा-मित्रों ने यह महसूस किया होगा कि शमशेरजी, शायद, केवल शमेशरजी ही ऐसे पहले वरिष्ठ साहित्यकार हैं, जो हमारे साथ खड़े रहने में गौरव महसूस करें—और तभी हमारी नज़रों में और भी वरिष्ठ हो जाते हैं और इसी प्रक्रिया में आत्मीयता बढ़ भी जाती है। संबंधों में उम्र का अंतर तभी मालूम होता है, जब हृदय पीढ़िंयों का अंतर महसूस करे। शमशेरजी के यहाँ क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता, इसलिए उनका व्यक्ति अपनी सतह पर कभी दुर्बोध नहीं रहा। (जैसे उनकी कविता अकसर रही है।) पहले परिचय में शमशेरजी काफ़ी सरल लगते हैं। जो उनके गहरे आत्मीय हैं, वे अनुभव कर चुके होंगे कि वे उतने सरल वास्तव में हैं नहीं जितने प्रतीत होते हैं, अर्थात् गहरे हैं। लेकिन व्यक्तित्व की दुर्बोधता में और कविता की दुर्बोधता में अंतर है। कविता में सतह पर की दुर्बोधता अगर टूट जाती है, तो भीतर निर्मल दर्पण है, निर्मल जल है, जो सब साफ़-साफ़ झलका देता है। हालाँकि कविता में सतह की परत दोहरी-तिहरी है—कई बार और अधिक। अतः परत में से निकलती परत...में ही अगर आप उलझ गए तो फिर निर्मल जल का आस्वाद असंभव ही मानिए !

लेकिन व्यक्तित्व ठीक इससे विपरीत है। ऊपर तो निर्मल जल है, दर्पण है, लेकिन भीतर गहरे एक पारदर्शी परत है। क़रीब-क़रीब अभेद्य। इसीलिए सतह का जल निर्मल तो होता है, एकदम साफ आमंत्रित करने वाला। पर झाँकने पर आपको अपना ही प्रतिबिंब दिखेगा। तल दिखाई पड़ने का भ्रम ही होता रहता है। पर वास्तव में यह तो वही अपारदर्शी परत है, जिसके नीचे असली शमशेर छिपे हैं, उन्हें कौन पा सकता है ? कोई नहीं।

एक सामान्य-से, न कुछ-से कवि को इतनी ईमानदारी, एकाग्रता और उत्साह से सुनने वाले बहुत कम साहित्यकार होंगे। शमशेरजी की यही विशेषता है। उज्जैन के लोग जानते हैं, कि उज्जैन रहते हुए वे सही अर्थों में कवि की तरह रहे। उनसे मिलने के लिए 'असमय' जैसा कभी कुछ नहीं होता था। तर्क भी क्या दिया करते थे—'मैं कवि हूँ,' मेरे सारे काम 'मूड्स' के अनुसार चलते हैं।' फिर मैं किस तरह और क्योंकर उम्मीद करूँ कि वे अपने 'मूड' के अनुसार न आएँ-जाएँ। मुझसे जो मिलने आते हैं, वे सभी कवि हैं। इस बात का क्या जवाब हो सकता है ? यूँ ये बात बहुत सामान्य लगती है, पर वास्तव में नहीं है। इससे उनके स्वभाव की एक सामान्य विशेषता प्रकट होती है। केवल कविता सुनने के मामले में ही नहीं, अपितु अन्य मामलों में भी सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति की सामान्य-से-सामान्य इच्छा का वे सम्मान करना जानते हैं। सामने वाले को पूरे धैर्य और प्रेम से सुनना। यह विश्वास दिलाते हुए कि उन्हें सुनना वे हृदय से पसंद करते हैं और यही वास्तविकता भी है। यह बात, मैंने तो कम-से-कम, बहुत कम जगहों पर पाई है। वैसे मैंने देखा भी कम ही है। सबसे बड़ी बात यही है कि शमशेरजी 'एप्रोचेबल' हैं—चाहे मौन के साम्राज्य में रहते हों !

लेकिन व्यक्तित्व का यही पक्ष कई बार भ्रम भी पैदा करता है। हर कोई यह मानने लगता है कि शमेशरजी को 'राय' देने का उन्हें हक़ है, बल्कि, उनका 'नैतिक कर्तव्य' है। वे भूल जाते हैं कि अपने जीवन के सारे महत्त्वपूर्ण निर्णय उन्होंने .ख़ुद लिए हैं—अपना जीवन उन्होंने अपनी तरह से जिया है—और अपने तईं ठीक ही जिया है, बुरा नहीं जिया है—कि हर कोई 'राय' देने लगे।

अकसर यह सुनने में आया है कि शमशेरजी हर किसी की प्रशंसा करते हैं, ये सही है। मगर दुःख की बात यह है कि उनकी प्रशंसा ग़ौर से नहीं सुनी जाती शायद। वरना जाँच के वे सारे महीन मापदंड नज़रअंदाज़ नहीं किए जाते। शमशेरजी स्वभावगत उदारता से 36 प्रतिशत सभी को देते हैं—प्रायः 55 प्रतिशत तो क्या 50 प्रतिशत भी बहुत कम को देते हैं। तब 60 प्रतिशत या 75 प्रतिशत की तो बात ही क्या की जाए। बहुत बड़े और कठिन परीक्षक हैं वे। परीक्षण की कठोरता में प्रवेश करती है, जाट की दृढ़ता। फिर उनके मतों से उन्हें धरती-भूकंप तक नहीं हटा सकते ! चाहे चीज़ों के बारे में हो, लोगों के या फिर तत्त्वों के बारे में हो...आप लाख तर्क कीजिए, समझाइए, दूसरा पक्ष रखते हुए, कोई अंतर नहीं पड़ता ! इस बात

को मैंने कितनी ही बार, कितने ही प्रसंगों में अनुभव किया और परखा है—और हर बार जाना है कि पहाड़ से टक्कर लेना आसान काम नहीं। यह दीवार से सिर टकराना नहीं है, क्योंकि न तो वे आपकी बातों का विरोध करते हैं, न ही आपकी बात को अनसुना करते हैं; बल्कि कई बार आपको लगता है कि वे सहमत हो रहे हैं। लेकिन यह उनकी सहमति का नहीं असहमति का अंदाज़ है। वे आपकी बात स्वीकार नहीं करते, न ही आपको कन्विंस करने की कोशिश ही—यह बात अलग है कि स्वानुभव से आप ख़ुद ही उनकी बात मानने लगें ! सनत कुमारजी को याद होगा कि कैसे दो व्यक्तियों के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए एक के लिए उन्होंने 'कलेवर' शब्द का इस्तेमाल किया था और दूसरे के लिए 'इंटलीमेंट' शब्द का ! इस प्रशंसा में निहित सूक्ष्म अंतर उनकी विवेक-शक्ति का तो उदाहरण है ही, पर अगर सुनने वाले में 'विवेक' का अभाव है, तो वह यही कहेगा कि 'शमशेरजी सभी की प्रशंसा करते हैं।' सनत कुमारजी से अन्य किसी सिलसिले में बातचीत हुई थी, तब उन्होंने ही मुझे यह 'विवेक-संपन्न' उदाहरण दिया था।

इसका मतलब तो यही हुआ कि शमशेरजी बुराई किसी की नहीं करते—चाहे लगता यह हो कि वे प्रशंसा सभी की करते हैं ! शायद भीतर-ही-भीतर वे कबीर का यह दोहा दोहराते हों—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय !
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय !!

हाँ, जितने वह औरों के लिए उदार हैं, उतने ही अपने लिए निर्मम हैं। इस निर्मम होने में कहीं भी उनका दंभ नहीं। अपने आपको जाँचने की, पड़तालने की, सतत प्रक्रिया में वे रहते हैं। अपनी बहुत कम, एकदम गिनी-चुनी कविताएँ उन्हें पसंद हैं। उनमें ऐसी भी एकाध हैं, जो आलोचकों को क़तई नापसंद होंगी। 'कविता की कसौटी पर खरी न उतरने वाली।' जैसे उनकी एक कविता है :

द्रव्य नहीं कुछ मेरे पास
फिर भी मैं करता हूँ प्यार
रूप नहीं कुछ मेरे पास
फिर भी मैं करता हूँ प्यार
सांसारिक व्यवहार न ज्ञान
फिर भी मैं करता हूँ प्यार !

बहुत ही सामान्य कविता है। पर शमशेरजी को यह कविता मन से पसंद है—बल्कि वे इसमें 'विश्वास' भी करते हैं।

उनके स्वभाव की कठोरता और निर्ममता ही उन्हें दूसरे का सम्मान करने के लिए अवसर और अवकाश भी देती है।

अन्यों की कलात्मक और काव्य ऊँचाइयों को देखकर ही वे अपना स्थान तय करते हैं।

उस पहाड़ पर जो झरने फूटते हैं, उनमें बहती है ममता माँ की ! 'हाँ, उनकी आँखों को देखकर ऐसा लगता है जैसे माँ की आँखें हों...' कहा था बहुत पहले मृदुला ने। और है इनमें शिशु-औत्सुक्य भी ! माँ के चेहरे पर बच्चे की-सी हँसी ? ये न सुरीयल है, न कोलाच। ये शमशेरजी के व्यक्तित्व की वास्तविकता है। ऐसी वास्तविकता, जिसे आप छू सकते हैं। वो वास्तविकता जब हमें भीतर तक छू जाती है, तब लगता है—'धन्यता का क्षण ऐसा ही होता होगा !'

'सबसे ऊँची प्रेम सगाई' सूर के इस पद को शमशेरजी ने अपने जीवन का ही नहीं, अस्तित्व का भी मंत्र बना लिया है। जीवन में आद्यंत 'प्रेम सगाई' को ही महत्त्व दिया है उन्होंने। आचार्य हजारी प्रसादजी के शब्द लूँ तो कहना पड़ेगा कि 'शमशेरजी प्रेम के साक्षात् विग्रह हैं।' उनके पूरे व्यक्तित्व में से प्रेम अगर घटा दिया जाए तो...तो शमशेरजी की शमशेरीयत रहेगी ही नहीं। उसके जो भी समाजशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक कारण हों—मैं उनकी चर्चा नहीं करना चाहती। उनके प्रेम का स्वरूप है—'दूसरे के व्यक्तित्व का पूर्ण एवं हार्दिक स्वीकार।' वे जब अपने बिछुड़े साथियों, आत्मीयों को याद करते हैं—तो कई बार मुझे आश्चर्य होता है कि किसी का भी क्या ऐसा विशुद्ध स्मरण संभव है ? किसी के रत्ती-भर के उपकार को मन भर का मानना, उसके प्रति भीतर से गद्‌गद हो उठना, इस हद तक कि दुनिया यहाँ-से-वहाँ हो जाए, वे टस-से-मस नहीं होंगे।

'उसे प्यार नहीं मिला है—भरपूर—अपने जीवन में। उसी को पाने की कोशिश रही है सदा-सदा। यही उसकी यात्रा (जीवन ? कविता ?) का ध्येय रहा है,' एक सुहृद ने उनके, मुझसे कहा था। और मैं सोचती हूँ कि क्या

विलक्षण न्याय है कि जिसे खोजते रहे—उसी को बाँटते भी रहे ज़िंदगी-भर। एक अच्छी-खासी उलटबाँसी !

'वे जहाँ भी रहते हैं, अपना स्नेह बाँटते रहते हैं।' एक चिट्ठी आई है, अभी हाल ही में, कितना सही लिखा है !

मानो किसी पेड़ के नीचे बैठे हों—टप से कोई पत्ता गिरता है—और अचानक देवता का आशीर्वाद मान हम उसे स्वीकारते हैं। ऐसा ही लगा था मुझे जब कवि ने कहा कि, मैं उनकी उचित सहायक हो सकती हूँ। अपनी अब तक की पिछली सारी कविताओं से लगभग असंतुष्ट, कवि, एक नई प्रकार की कविता लिखने के लिए कटिबद्ध थे। ऐसी कविता की पहली शर्त होगी कि वह सहज-सरल हो। (सहज दुरूह नहीं।) ऐसी कविता, जो उनकी भविष्य की कविता होगी। उसी कविता का स्वप्न लेकर वे सुरेंद्र नगर आए थे—बहुत सारी उम्मीदों के साथ आठ-आठ घंटे लगातार काम करने के उत्साह के साथ।

"मैं जब काम करता था, तब ऐसे ही। इलाहाबाद में जब रहता था तब एक कमरा था मेरे पास—सीढ़ियों के नीचे। एक ही खिड़की थी उसमें। बस, उसी में बंद होकर लिखता था, जब लिखता था। उन दिनों मेरे साथ हेरम्ब मिश्र थे। साथ रहने की शर्तों में एक थी—जब मैं लिख रहा होऊँ, तो किसी भी प्रकार का डिस्टर्बेंस नहीं होगा—चाहे जो हो। गर्मियों का मौसम था। ऐसी ही घोर गर्मी के दिन, जब मैं पूरी तन्मयता से अपने उस 'राइटिंग सेल' में लिख रहा था कि अचानक बाहर धूप और गर्मी से परेशान मिश्र जी आए और मुझे लिखते हुए देखकर बोल उठे, 'अरे शमशेरजी, आप तो इतनी गर्मी में कैसे काम कर रहे हैं ?' लिखने में व्यस्त मेरा दिमाग़ झनझना उठा। मैंने न आव देखा न ताव—और ख़ूब लताड़ा...गुस्सा शांत हो जाने के बाद मुझे अपने पर क्षोभ हो आया। मैंने माफ़ी भी माँगी। ख़ैर...पर मैं ऐसे ही करता हूँ। पूरी तन्मयता से।" उस समय मन इसी आनंद से भरा-भरा था कि शमशेरजी आएँगे। वे आए भी। पर...अफ़सोस कि इस तरह काम करने का मौक़ा ही नहीं आया अब तक।

कितना कुछ करने का सपना लेकर आए थे वे सुरेंद्र नगर। पर यह लगातार

बीमारी उन्हें कुछ करने नहीं देती और अपना सृजन तो हमें ख़ुद करना होता है। उसे 'डिक्टेट' नहीं किया जा सकता। फिर भी मैंने कोशिश की। पर सफल नहीं हो सकी। बातें तो इतनी सारी हैं, पर कोई कहाँ तक करे ? और क्यों करे ?

बीमारी...सोचती हूँ...नहीं—सोचना चाहती ही नहीं। उन दर्दनाक ब्योरों की बात करने के लिए क़लम नहीं उठती। पर इतना ज़रूर कहूँगी—यह भीषण काल उन्होंने अपनी सृजनेच्छा के बल पर ही काटा, वरना सामान्य मनुष्य के बस की बात नहीं है।

बीमारी के पहले और बाद के शमशेरजी को देखती हूँ तो मेरे सामने एक चित्र खड़ा रहता है। मुझे हमेशा यही लगता है कि अप्रैल, 1985 तक मानो उन्होंने बुढ़ापे को फटकने तक नहीं दिया अपने पास, दूर-दूर तक। पर इस बीमारी की वजह से जो दरार पैदा हो गई, उसी में से धँस आया वह। 'इट जस्ट रश्ड् इन' इतनी तेज़ी से कि स्वयं शमशेरजी भी उसके लिए तैयार नहीं थे। उसका न ही वे स्वागत कर पाए, न ही स्वीकार। और इसी चक्कर में सारा शारीरिक और मानसिक संतुलन गड़बड़ा गया।

पिछला पूरा वर्ष, वे एक ओर तो बीमारी से लड़ते रहे और दूसरी ओर (अपेक्षित किंतु) अनचाहे अतिथि-से इस बुढ़ापे को उसी दरार से खदेड़ने की कोशिश भी करते रहे। खूब जी-तोड़ कोशिश करते रहे, पर...दरार चौड़ाती गई और दुर्भाग्य की बात है, मगर यह सच है और यथार्थ का स्वीकार भी कि अंततः अपने बुढ़ापे को उन्होंने स्वीकार कर लिया...और ये अभी-अभी की बात है, यानी महीने-भर पहले की। आमीन।

वापिस लौटना क्या संभव है ?

काफ़ी दिनों पहले एक कहानी पढ़ी थी, शायद जापानी कहानी थी। इसमें एक आदमी है जो कुछ समय मृत्युलोक में रहने के बाद वापस धरती पर अपनी ज़िंदगी के बचे हुए दिन पूरे करने आता है। यह शायद भेजा जाता है। वह आ तो जाता है, पर लगभग भावहीन हो चुका है। कहानी लंबी है जिसमें उस आदमी की मृत्यु के पूर्व का वृत्तांत तो था ही, पर उसके मरने पर स्वजनों का दुःख, उसके लौट आने की क्षणिक ख़ुशी, उसके बाद का उनका भीषण भय, धीरे-धीरे उसके लौट जाने की इच्छा का जगना, तीव्र होना, उसके दुबारा मर जाने पर बेहद खुशी का इज़हार आदि...।

यह कहानी मेरे भीतर उन गिनी-चुनी रचनाओं के साथ हमेशा के लिए अंकित हो गई है, जिन्होंने मुझे बेहद प्रभावित किया है। सोचती हूँ, ऐसा क्या है इस कहानी में ? तो पहले ख़याल उस दहशत का आता है, जो उस आदमी के मर जाने पर दुबारा सशरीर लौट आने के साथ आती है। एक आदमी मृत्युलोक...यमलोक से लौटा है...वहाँ की छायाएँ अपने साथ लेकर।

यानी मात्र दहशत के कारण ? अगर ऐसा है, तो दहशत फैलाना साहित्य का मूल्य तो नहीं !! बात कुछ और होगी, पर इससे इनकार नहीं कि असर इस बात ने ग़ज़ब का डाला !!

मरने के बाद दुबारा ज़िंदा होना, घटना है अपने आपमें—एक आम आदमी का ज़िंदा होना, यीशू का नहीं। आकर्षित करती है उसके प्रियजनों की बदलती जाती भावनाएँ, जो ज़िंदगी का यथार्थ हैं। यह वह यथार्थ है, जिसे हम स्वीकार करना नहीं चाहते।

आदमी जब मरता है, तब हम कहते हैं कि काश ! वह नहीं मरता ! ऐसी बात नहीं है कि हम केवल कहने भर को कहते हैं, हृदय के ऊपरी स्तर से, पर असल में हम जानते ही नहीं कि अगर वह लौट आए तो क्या होगा ?

नचिकेता और सत्यवान का लौटना इस अर्थ में अलग है। ये दोनों घटनाएँ प्रतीक बन चुकी हैं—मृत्यु पर विजय की। उनके चारों ओर की वास्तविकता वाष्पीभूत हो चुकी है, अतः हम इसके चारों ओर हास्य-व्यंग्य और दूसरी-तीसरी तरह की वास्तविकताएँ सिरज लेते हैं। पर इस कहानी में तो एकदम सामान्य मनुष्य है। आम आदमी।

एक नई व्यवस्था, स्थिति स्वीकार कर लेने के बाद पुरानी व्यवस्था असुविधाजनक हो जाती है। मरने के बाद लौटे हुए आदमी को इस तरह यानी पहले की तरह हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे, न कर पाएँगे। मृत्यु एक ऐसी वास्तविकता है, जिसके सामने सब कुछ पराजित-सा है। व्यक्ति के मर जाने के बाद का सूनापन चाहे आकाश जितना ही क्यों न हो—हम कलप लेते हैं, उसकी मौत को स्वीकार कर लेते हैं—पर गए हुए व्यक्ति को मय शरीर के दुबारा स्वीकार करना मुश्किल है। हाँ, दूसरा जन्म जैसी मिथक कल्पना हो तो दीगर बात है। 'दूसरे जन्म' को सच भी मान लें, तब भी इस जन्म में यों दुबारा ज़िंदा होना गले नहीं उतरता।

और फिर जो व्यक्ति चिता पर से उठ आया हो—उसके लिए जीवन का मतलब क्या हो सकता है ? वह किस नज़रिए से देखेगा ? जैसे गर्मियों के दिनों का आकाश—सपाट, रंगहीन...लगभग भावहीन ! जैसे आत्मा और देह दोनों सन्नाटा बन गए हों।

हम नहीं जानते कि चिता से स्वर्गलोक या यमलोक गया व्यक्ति ईश्वर से मिल पाया होगा या नहीं ? रास्ते में कौन-कौन मिला होगा ? क्या-क्या देखा होगा ? उसके लिए क्या यह मिलना भी महत्त्व रखता होगा ? (यह तो हमारी रुचि का विषय है—सेमीनार, लेख हमें करने होते हैं—उसे क्या जो भावहीनता से आया हो ?)

मृत्यु की अनंत ठंडक के बाद जीवन पाना यानी अनंत गर्मी में आना। एक असमाप्त जो दूसरी मृत्यु तक रहेगा। एक बार इस तरह मर जाने के

बाद जीवन पाने वाले को ऋतुओं के परिवर्तन से भी क्या वास्ता ? असल में अनंत ठंडक और असमाप्त ग्रीष्मकाल के बीच में कोई अंतर नहीं होता। जीवन में लौटता है, तो ठंडक नहीं चल सकती। इसीलिए गर्मी। सातत्यपूर्ण उच्च तापमान।

हम क्या वास्तव में मृत व्यक्ति को जीवित देखना चाहते हैं ? क्यों ? क्या ज़रूरी है कि हम इस तरह चाहें ? बल्कि होना यह चाहिए कि मरने के बाद क्षण-भर के लिए भी न जिएँ। मरना, यानी बस मरना। भूल जाना सारे राग-द्वेष, सुख-दुःख, क्रोध, ममता, पीड़ा। क्या ऐसा हो सकता है ?

मर जाने से ही बात खत्म नहीं होती। लेकिन जन्मांतरों की इस अनवरत दौड़ में मरना जरूरी है। सबसे अधिक सुविधाजनक है जन्मांतरों की यह सोच। हर बार मृत्यु कुछ देर के लिए राहत देती है। दुबारा दूसरे चोले में आने के पहले कुछ देर का विश्राम। उसके बाद फिर नए जन्म के दुःख-दर्द साथ हो लेते हैं। अच्छा है, स्मृति पिछले जन्मों की याद नहीं दिलाती सभी को—नरक ढूँढ़ने जाने की क्या आवश्यकता रहती वरना ? भूल जाने जैसी नियामत दूसरी कोई नहीं। सच पूछिए, वर्तमान जीवन की स्मृतियाँ ही क्या कम क़हर ढाती हैं ?

स्मृतियाँ हमारे अकेले की नहीं होतीं। कई बार हम पारिवारिक दुःख, अपमान, घृणा की स्मृतियों को भी अपनी स्मृति का हिस्सा बना लेते हैं। तब जीवन और दुःसह हो जाता है। मध्यकाल का ही क्यों, वर्तमान समय का भी कितना सारा हिस्सा ऐसी ही स्मृतियों से बना है। आज हमारे देश में स्थिति यह है कि अघटित किंतु अब काल-कलवित ऐसी स्मृतियों को पुनर्जीवित करके हम एक-दूसरे को मारने के लिए खुद मरने के लिए तत्पर हैं। घटना की वास्तविकता सिद्ध करने के लिए हमने अपने मूल्यवान दिमाग कई वर्षों तक खर्च कर दिए हैं। करते चले जा रहे हैं, कितने ही कागज काले कर डाले। मैं सिनिक हूँ, वरना उन पेड़ों का हिसाब गिनाती, जो काग़ज़ बनने में कट गए, शहीद हो गए। सच पूछिए, मैं ऐसी ही सिनिक बनना चाहती हूँ—क्योंकि सिनिक बने बिना कोई विकल्प नहीं है। बेहतर विकल्प—जीने का। ऐसे सिनिक जो दूसरों के लिए सोचते हों, दूसरों के लिए जीते हों।

इधर हम लोगों को अपने ही लिए जीने की आदत पड़ गई है। अपना यह दायरा इतना छोटा है कि चचेरा ही नहीं सगा भाई भी अपनों की सीमा के बाहर खड़ा किया जाता है, वक़्त आने पर।

एक सांस्कृतिक स्मृति 'वसुधैव कुटुंबकम्' की है। बहुत सुख देने वाली यह स्मृति अब वास्तविक नहीं बन सकती। यह तो उस सांस्कृतिक स्मृति-ख़ाने का हिस्सा बन गई है, जिसको लेकर हम गर्व से सीना फुला लिया करते थे, बल्कि अब भी करते हैं। हमारे कल्चरल म्यूज़ियम की एक नायाब चीज़ पूरी दुनिया को दिखाने के लिए, इसे हम आने वाली पीढ़ी को भी दिखा सकेंगे, दे तो नहीं सकेंगे। कई सारी चीज़ें धीरे-धीरे इसी ख़ाने में चली गई हैं—या जा रही हैं। हमने इस ओर बहुत ध्यान नहीं दिया तो नारियों का सम्मान भी वहीं चला जाएगा। वैसे यह तो एक स्वतंत्र चर्चा का विषय है। पर एक बात कहे बिना जी नहीं मानता। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवताः' नहीं है। यों भी मानव, मानव की पूजा करे—यह कोई स्वस्थ परंपरा नहीं है। राजनीति में हम इसे सफलतापूर्वक आज़मा चुके हैं और उसके दुष्परिणामों को भुगत चुके हैं, भुगतते आ रहे हैं।

अतः यह ज़रूरी है कि स्त्री-सम्मान का एक ऐसा तरीक़ा ढूँढ़ लेना होगा, जो उसे सांस्कृतिक स्मृति-ख़ाने में जाने से बचाए।

'ज्ञान' की भी यही हालत है। 'शिक्षा' के ख़ोल को ज्ञान का पर्याय मान लिया गया है। औरों के अनुभव मैं नहीं जानती, पर जब विद्यार्थियों को गद्गद भाव से यह कहते सुनती हूँ कि हमारे अध्यापकों ने हमें जो 'ज्ञान' दिया है...तो सिर पीट लेने का मन होता है। वे व्यंग्य में कहते हों और बात थी, पर वे दृढ़ता और मुग्धता से कहते हैं। उन्हें कौन बताए कि अरे भाई, अभी तो हमें भी ज्ञान नहीं मिला है—तुम्हें क्या दें ? विडंबना यह है कि हमने अभी तुम्हें ज्ञान, शिक्षा और जानकारी के बीच के भेद भी नहीं समझाए हैं। पर...चल जाता है सब-कुछ। कई वर्षों से चल रहा है...!

'चल जाता है...' शायद इसीलिए हमारा दिमाग़ भी वे ही स्मृतियाँ सँजोकर रखता है, जो जीवन के सहज-सरल प्रवाह में ज्यादा खलबली न मचाएँ। बस, कुछ लहरें उठ भर जाएँ। युगांतर वाले प्रसंग यों भी कभी-कभी ही घटित होते हैं। सबके बस में कहाँ कि वलवला पैदा कर सकें। ऐसा कोई एक जब पैदा होता है, तो उसकी स्मृति भी वर्षों तक राहत दे जाती है। गाँधीजी की स्मृति अभी कुछ और वर्षों तक राहत देगी...हालाँकि अब उसके उतार का समय है...और फिर हम सपना देखने लगेंगे, ऐसी ही किसी घटना का।

कई बार ऐसा होता है कि स्मृतियाँ स्मृति-ख़ानों से बाहर झाँकने लगती हैं...तब से, जब से पुराणों को देखने का हमारा नज़रिया बदला है, वरना

वास्तविक जीवन में पूर्ण पुरुषोत्तम क्या संभव है ? बुद्ध, महावीर और गाँधी को हमने मान लिया, पर कृष्ण तो हमारे लिए कथा-नायक की तरह हैं। हैं भी, नहीं भी। पर इधर स्थितियाँ ऐसी बनती जा रही हैं कि कहीं-न-कहीं उसके वास्तविक होने की आशंका घर करने लगी है। एक कुलबुलाहट-सी भीतर पैदा होने लगी है कि अगर उसने कहा है, यदा यदा हि धर्मस्य...तो अब कितनी सारी ग्लानि होना बाक़ी है ? इससे ख़राब समय अब क्या आएगा ? ईश्वर पिछली शताब्दी में मर गया ? बल्कि इस शताब्दी के आरंभ में। इस शताब्दी के अंत तक आते-आते मानवता मर गई। अब देखना यही है कि जब दोनों मृत हैं, तो कौन दुबारा पहले जी उठता है। चाहते हो यही कि मानवता जीवित हो—ईश्वर को क्यों कष्ट दें ? पर मनुष्य क्या ऐसे होने देगा ? देखिए...! मेरे मार्क्सवादी और रेशनलिस्ट मित्र कहते हैं कि हम जब कमज़ोर हो जाते हैं, तो ईश्वर की बात करने लगते हैं। मैं उनसे सहमत हूँ। मैं भी चाहती हूँ कि बिना किसी की मदद से इनसान बेहतर बन सके, अपनी व्यवस्था ठीक कर ले। खाली-खूली उम्मीद व सपने देखने का वक़्त पूरा हो गया है। अब व्यक्तियों, विचारों, समाजों के इंट्रोस्पेक्शन का समय आ गया है। ये बेहद ज़रूरी है कि मनुष्यता जीवित हो ! कुछ करने का यही वक़्त है।

मुझे अब लगने लगा है, सेक्यूलर ह्यूमेनिटी की बनिस्बत, धार्मिक मानवता अच्छी है—ऐसी जिसमें दूसरों के लिए जीना, दूसरों के लिए सोचना शामिल है। जहाँ 'सबके लिए' होता है, वहाँ किसी के लिए कुछ नहीं हो पाता ! धर्म-निरपेक्षता की आदर्श कल्पना हमारे संविधान रचने वाले जानें—पर जो वास्तविकता हमें मिली है, वह तो जेठ के आकाश की तरह भावहीन और सपाट है। क्या यही वर्तमान हम अपनी आने वाली कई सारी पीढ़ियों को देंगे ? ऐसी सांस्कृतिक स्मृति ?

तब ऐसी पृथ्वी पर क्या कोई लौटना चाहेगा, बचे हुए दिन पूरे करने ? क्या हम कभी अच्छे दिनों में लौट सकेंगे ? 'वसुधैव कुटुंबकम्' की सांस्कृतिक स्मृति को सच बना सकेंगे ?

इन प्रश्नों के साथ मैं टकटकी लगाकर देख रही हूँ कि काश ! एक बादल तो सँवला जाए आकाश में !!!

फिर आ गए शिरीष

घंटाघर तक तो बस में आई और अब यहाँ से पैदल ही घर जाना था। शाम गहरा रही थी...निश्चय ही कुछ सोच रही हूँगी कि अचानक कहीं से, मेरे नासापुटों को उत्तेजित करता हुआ, चिर-परिचित गंध का एक झोंका कहीं से आया। मैं चौंक गई—हठात् मेरे पाँव जहाँ-के-तहाँ स्थिर हो गए। मैंने सिर उठाकर देखा—वहीं डालियों पर सजे-सजे स्वयंप्रकाशी शिरीष ! हाँ, शिरीष आ गए। फागुनी शिरीष। अभी फागुन है—आठ दिन बाद तो होली आ जाएगी। होली के पहले ही आ गए शिरीष—शायद इन्हीं दिनों आते होंगे—पर हर साल मैं यही सोचती हूँ—अबकी बड़ी जल्दी आ गए...होली के पहले आ गए शिरीष—टेसुओं के साथ-साथ...एक रंग की और दूसरा गंध की मादक बहार लिये हुए।

शिरीष का अकेला फूल तो हल्की नामालूम-सी गंध लिये मंद-मंद महकता है; पर जब अपने साथियों से मिल जाता है, तब तो राह चलते को सहज ही रोककर जता देता है कि, 'भइया हाँ—आ गए हैं हम।'

सच बताऊँ, दो-चार शिरीष रूमाल में बाँध लीजिए, दिन-भर महकता रहेगा आपका रूमाल, आपका मन और वो सारी जगहें जहाँ-जहाँ आपके साथ वह रूमाल भी होगा। फागुन में ऐसा शिरीष-बँध रूमाल मिल जाए, तो

विश्वास मानिए ज़िंदगी-भर महकता रहेगा वह !

यही प्रियकर और आकर्षक उसकी गंध कभी-कभी जानलेवा भी होती है—पंक्तिबद्ध शिरीष फूले हों—मँह-मँह, शाम उतर आई हो पूरी तरह से, और हवा कतई नदारद—ऐसे में शिरीष की तीखी गंध जानलेवा ही होती है। सही-सही (अभिधा में) जानलेवा। गंध में घुट जाने की नौबत आ जाए। गंध में घुल जाना तो प्रियकर हो, पर घुट जाना ?

मुझे याद है जब बहुत छोटी थी, तब पहली बार शिरीष को देखा था। देखा था, और खूब अच्छी तरह जाना था। पर नाम...? न...भला इस औपचारिकता के चक्कर में कौन पड़े ? नाम की महिमा यूँ हम लोगों के स्वभाव में नहीं है। अकसर यात्रा करते समय अपने सहयात्री से ढेर सारी आत्मीयता से अपनी पूरी ज़िंदगी का रहस्य खोल बैठते हैं, बदले में वह भी ठीक—ऐसा ही करता है—पर नाम तो उतरते समय ही पूछते हैं कि, 'लीजिए अपना दिल खोलकर रख दिया, पर आपसे नाम तो पूछा ही नहीं ?' और फिर पते पर आने का निमंत्रण, आग्रह इत्यादि के साथ अकसर फिर कभी नहीं मिलने के लिए विदा होते हैं।

हाँ, तो शिरीष का नाम नहीं पता था...हो सकता है कि तब पूछा भी हो किसी से, पर जिससे पूछा, उसे भी नहीं पता होगा शायद, लेकिन इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है ? या पड़ा। बचपन में संबंध की दृढ़ता में नाम की भूमिका सबसे गौण होती है। किसी का भी पसंद आ जाना—सबसे अहम् बात होती है—वह भी एक-दूसरे के स्वीकार की भूमि पर। शिरीष मुझे क्यों नहीं स्वीकारता ? बहुत प्रिय था मुझे, मेरे बचपन का प्यारा साथी और यही काफ़ी था।

मुझे याद है, वे अकसर छुट्टियों की-सी सुबहें होती थीं, हम लोग घूमने जाते थे। हमें नहीं भूलता था कि हमें वहाँ उस लंबे पूरे पेड़ तक जाना है, जिसके नीचे प्यारे-प्यारे कोमल फूल बिखरे रहते हैं—एकदम ताज़ा—उन्हें बीनना है। फ्रॉक के घेरे में ढेर सारे ताजा फूल समेटते थे। फिर वहीं-कहीं पाँव फैलाकर बैठ जाते थे। एकाध फूल पूरे चेहरे पर ब्रश की तरह फेरते थे। फिर धीरे-धीरे एक-एक करके सारे फूल उँगलियों के बीच पकड़ते। बड़ा-सा गुच्छा बन जाता और तब आह्लादित होकर उन्हें बहुत हौ...ले...हौ...ले गुदगुदाते हुए फेरते थे। गुदगुदी...खुशबूदार गुदगुदी का आनंद बचपन के निर्द्वंद्व दिनों में ही समझा जा सकता है, जब अकारण ही ढेर सारी प्रसन्नताएँ अनुभव होती हैं। फूलों से ख़ाली हुई फ्रॉक को हम देर तक सूँघते

रहते थे। अच्छा-ख़ासा खेल हो जाता था यह भी !

फिर हरे-कच्चे पत्तों के बीच से लटकती उसकी चपटी पड़ी सूखी फलियाँ—जो हवा के आने पर पट-पट तालियाँ बजातीं—शायद हमारे आनंद से आनंदित होतीं ?...लेकिन तब पता नहीं था कि कालिदास के काव्य में इन फूलों की बड़ी महिमा है। इनका भी अपना एक 'स्टेटस' है—मेरे लिए तो वह बाल-सखा ही था।

शिरीष की स्मृति के साथ निबद्ध है मेरे एक और बाल-सखा की गहरी उपस्थिति—अमलतास की। वही, अनाम परंतु सघन परिचय। मुझे याद है, अमलतास को हम 'जैपनीज लैन्टर्न' कहते थे। यह उस पाठ का प्रभाव था, जो हमारी अंग्रेज़ी की किताब में था—जापानी जीवन-पद्धति पर और उस समय इससे ज़्यादा उपयुक्त नाम और सूझ ही नहीं सकता था। एकदम 'फ़िट' लगता था। उस रूप में आज भी यह नाम कम ठीक तो नहीं ही लगता। याद है मुझे, अमलतास के ठाठ-बाट से हम बहुत प्रभावित थे। एक उसका शानदार अंदाज़ था जिसके लिए सबसे ठीक शब्द हो सकता है 'भपका'। उसका यह 'भपका' बहुत आकर्षक था। पीले ज़र्द फूलों का लटकता हुआ झूमर। फिर ख़ुशबू भी तो कितनी भीनी-भीनी-सी आती थी।

याद है मुझे, बचपन में 'संग्रह' का एक व्यापक शौक होता है बच्चों को। हर चीज़ का संग्रह—डाक टिकट, खूबसूरत चित्र, कार्ड्स, रंगीन पत्थर, शंख, कौड़ियाँ, रिबनें, रंगीन चिंदियाँ आदि मुझे याद हैं, मैंने साँप की केंचुली भी संग्रह में रखी थी। अब भी होगी कहीं शायद। इसी रौ में एक पूरा-का-पूरा अमलतास का झूमर सुखाया था। और सच, यह एक 'विशेष' बात थी।

अमलतास की फलियाँ घर ले जाते थे। एक बार दादाजी ने बताया—'औषधि' होती है। हमें तब अपना यह काम बड़ा महत्त्वपूर्ण लगा था !! दादाजी ने कहा था कि, 'गूदा मीठा लगता है—गुड़ का-सा !' तब उत्सुकता से चखा भी था। मीठा होगा—पर कषैला तो था ही !

दो-एक वर्ष पूर्व जब उज्जैन जाना हुआ था—(न जाने कौन-सीवीं बार...) तब पता चला था कि अमलतास के फूलों का गुलक़ंद भी बनता है।

शमशेरजी के साथ दिन का पहला कार्यक्रम होता था—टहलने का। बी. एड. कॉलेज से निकलने के बाद दशहरा मैदान के पहले कुछ सरकारी मकान हैं। उस अहाते में एक छोटा-सा अमलतास है, (जो कि अब बड़ा हो गया होगा) पर झूमर लटके थे ढेर-के-ढेर। मैं मुग्धता से किलक उठी। तब उन्होंने बताया कि उनके पिताजी अमलतास का गुलक़ंद बनाते थे। एक सफ़ेद साफ़-

सुथरी चादर बिछा दी जाती थी। पेड़ के नीचे रात ही में। सुबह चादर पर झरी अमलतास की पत्तियाँ बीनकर अलग कर दी जाती थीं और उन्हें किसी मर्तबान में भर दिया जाता था। उस पर चीनी डाल दी जाती थी। रोज़ यही प्रक्रिया दोहराई जाती। गुलाब के गुलक़ंद की ही तरह...

अगर बचपन में लौटूँ–तो गुलमोहर को कैसे भूलूँ ? उसके राजा-रानी ...खट्टी-खट्टी-सी डंडियाँ ! और हाँ, फिर उस रेलवे स्कूल की ऊँची दीवार से चिपटी जंगली बेल...जिसमें छोटे-छोटे गुलाबी फूल गुच्छों में झूम जाते थे...? नाम...हम लोग तो उसे 'आइसक्रीम क्रिस्पर्स' कहते थे ! (मुझे लगता है 'क्रीपर' होगा मूल रूप में।) उन फूलों का अपना आकर्षण तो था ही–पर 'आइसक्रीम' ने उनका आकर्षण कई गुना बढ़ा दिया था, हमारे लिए, तब तो 'आइसक्रीम' विरली वस्तुओं की सूची में आती थी। विरल की प्राप्ति का महत्त्व तो सभी स्वीकारते हैं।

इन चारों फूलों को मैंने बचपन से ही एक दोस्त की तरह अपने साथ पाया है। बचपन का जो हिस्सा भूलने के लिए होता ही नहीं है, उस मेरे अंश में ये चारों फूल रंग-गंध और छंद लिये चिरस्थायी हो गए हैं।

ये सारी बातें बचपन के आरंभिक हिस्से की हैं। फिर तो एक लंबा अरसा बीत गया। स्कूल और फिर कॉलेज...और स्नातक भी हो गई। पर ये रहे हैं हमेशा-हमेशा साथ–उन आत्मीयों की तरह जो इतने अपने होते हैं, मानो हमारा ही हिस्सा हों, तभी शायद रोज़ मिलना ज़रूरी भी नहीं होता। फिर तो मैंने वह शहर भी छोड़ दिया। मुझे लगता है, मैंने उनसे विदा भी नहीं ली थी। उस समय तो ऐसी कोई भावना जगी नहीं थी। पर आज भी जब सोचती हूँ, तो कोई अफ़सोस नहीं होता। विदा तो उससे लेते हैं, जिसे छोड़ना है, या जो छोड़ता है। पर यहाँ तो छोड़ने वाली बात ही नहीं थी, बल्कि वर्षों के अंतराल ने उस भाव को गहराया ही। तब नहीं पता था कि यह परिचय अब नए सिरे से होने वाला है।

नया सत्र शुरू हुआ और मैं एम.ए. करने अहमदाबाद आई। तब कि शिरीष फूल चुके थे, उनकी ऋतु बीत गई थी। पर शाश्वत परिचय बनाए हुए थीं–फलियाँ। पर जब ध्यान गया-न-गया सा। दूसरा सत्र समाप्ति पर था। शिरीष ठीक समय पर हाज़िर हो गए। (मौसम के रजिस्टर में प्रोक्सी नहीं लगती, इसलिए गुलमोहर और अमलतास गैर-हाजिर थे। हालाँकि कहीं-कहीं अमलतासों की कोशिश नज़र आ रही थी।)

शिरीष को देखते ही मन पुराने परिचय से आश्वस्त हो गया, कि हाँ–तुम

तो हो !!! मज़ा देखिए आप—नाम तो पता नहीं था कि क्या है—पर उसकी ओर से आश्वस्ति लेने में कोई हिचक नहीं थी। बचपन का परिचय इतना प्रगाढ़ था कि याद ही नहीं आता था कि नाम पता नहीं है।

अब फ्रॉक-भर तो नहीं, पर फिर भी बीन तो लेती ही थी। ढेर सारे, पल्ले में ? यह तो बड़ा रोमांटिक लगता, सो बात वहीं ख़त्म।

ऐसे में एक दिन शिरीष कानों पर पहने भवन (भाषा-साहित्य भवन) गई। 'सर' (भोलाभाई पटेल) भवन की लॉबी में ही मिल गए। उनका ध्यान हमारी तरफ़ गया—

और ठहाका मारकर हँसे, कहा—

'चूड़ाशे नवकुरबकं, चारू कर्णे शिरीषं...'

हम मुँह ताकते रह गए। फिर अर्थ बताया—'अब हुआ है परिचय बाक़ायदा शिरीष का...' मैंने मन-ही-मन कहा। किंचित् अफ़सोस भी हुआ कि, 'अरे यह नाम पहले क्यों नहीं जाना था।' पर फिर लगा, जो हुआ अच्छा ही हुआ क्योंकि परिचय का इससे सही, इससे अच्छा और प्यारा मुहूर्त कोई दूसरा नहीं हो सकता था—भवन, कालिदास, 'सर' और मेरे बचपन से होड़ लेने वाली उनकी मुक्त हँसी सदा-सदा के लिए अंकित हो गया है यह सब शिरीष के साथ मेरे हृदय में।

और तभी आज फिर रोक लिया है, मौसम के पहले शिरीष ने—'ये शिरीष के फूल। ऋतु के प्रथम स्पर्श। हर्ष मन के। संघर्ष जीवन। परंतु कोमल। तब का !'

पंक ज

हम प्रसाद से बच सकते हैं, कर्मण्यता से बच सकते हैं, अकर्मण्यता से भी, प्रभावों से—अच्छे-बुरे चाहे जैसे हों—पर ऋतुओं से नहीं बच सकते। कैसे बच सकेंगे भला ? और ऋतुओं की चपेट में आना, यानी उनका अच्छा-बुरा, सभी झेलना ! यानी...यानी..., जनाब !!

अब जैसे अभी बारिश के दिन हैं। फुहार अच्छी लगती है तो कीचड़ भी भुगतना ठहरा ! आप इतना ही कर सकते हैं कि कमलवत् बनें या पंक बनें।

कमल बनना तो लगभग असंभव है, क्योंकि वह तो जन्म से होना होता है। आप कमल हैं, तो हैं, वरना नहीं। आप कुछ और हैं मसलन लिलि, गुलाब या गुले-अब्बास—तो आप कमल नहीं बन सकते। कमलवत् बनने की अपनी कोशिश जारी रख सकते हैं। कमल बनने की पहली शर्त है—कीचड़ से पैदा होना। (यह बात नहीं कि कीचड़ से पैदा होने वाली हर चीज कमल हो) पर कमल बनने के लिए तो कीचड़ अनिवार्य है। हाँ, दुर्गंध न बनें—कमल बनें। यहाँ तक आते-आते सारी बातें प्रतीकात्मक होने लगीं। मैं ऐसा क़तई नहीं चाहती थी। पर कहना मैं इतना ही चाहती हूँ कि ऋतुओं में जीकर उनके प्रभावों से बचने की बात करना यानी कमल बनना चाहकर कीचड़ से बचना।

मेरा यह तर्क ऋतुओं को कीचड़ और हमें कमल बना रहा है और यह तो ऋतुओं के साथ अन्याय है।

लेकिन उनकी पड़ी किसे है ? जब तक कि कोहराम न मचा दें, या त्राहि-त्राहि न कर दें, ऋतुओं की तरफ़ ध्यान कौन देता है ? उनका आना पता किसे चलता है। इतनी संवेदनहीनता आ गई है कि पूरी-की-पूरी ऋतु गुज़र जाती है हम पर से और हम हैं कि किस क़दर बेख़बर रहते हैं ? चिकने, औंधे घड़े की तरह हम...कि कितनी भी आर्द्रता, भीगापन चारों तरफ़ हो ...पर कुछ बूँदें ही टिकती हैं हम पर...वह भी कुछ ही देर के लिए। मैं तो कहती हूँ कि इन्हीं कुछ बूँदों को समो लें हम अपने भीतर...उन्हीं की बात कर सकें...यह भी कम नहीं है !

मैं बहुत निराश इसलिए नहीं हूँ कि यह दौर अब बदलेगा। अब इन बूँदों की फ़िक्र करने वाले—गीली मिट्टी से सिर उठाने लगे हैं। अब हर छोटी बात के लिए अपने आपको गलियाकर वक़्त बरबाद करने के दिन नहीं रहे हैं। अब अपने ज़मीर को जगाने का दौर शुरू हुआ है। (अगर यह भी राजनीतिक छल-छंद से तब्दील न हुआ तो कह सकते हैं कि) जो बीज कभी पड़े थे, अब अंकुरित होने की सतह पर आ गए हैं। परिवर्तन का दौर कितने ही दलदलों से अँटा पड़ा है। यहाँ औरतें अगर जलाई जा रही हैं या नंगी की जा रही हैं, तो कहीं बहुत चमत्कारिक रूप से ईमानदारी की क़ीमत पर नौकरी व परिवार को गौण समझने वाले भी दिखाई दे रहे हैं। आप देखिए, बहुत आश्चर्यजनक रूप से परगेशन की क्रिया हो रही है। सभी अपनी वास्तविकता दिखाने को मजबूर हो रहे हैं। चाहे साधु हों, या नेता। अब अपना काम न करने वालों के दिन लद जाएँगे। ये बातें अभी मामूली लगेंगी, अपवाद जैसी—पर अलग-थलग बिखरी इन घटनाओं को मिलाकर अगर देखें, तो लगता है उम्मीदों का दौर शुरू होगा। बल्कि शुरू होने...होने...को है। वरना तमाम पैसा और ट्यूशन वालों, ट्यूशन क्लासों को जोरदार तमाचा मारते हुए शमशेर बानो बोर्ड में अव्वल न आती। कितनी तसल्ली की बात है अध्यापकों के लिए—ये जाकर पूछिए उनसे जो अभी पेशेवर 'अध्यापक' नहीं हुए हैं। स्थिति ऐसी है कि यह ख़याल आम है कि अध्यापकों के न पढ़ाने के कारण ट्यूशन क्लासें भेजनी पड़ती है, वहाँ शमशेर बानो यह कहती हैं कि अध्यापकों के कारण वह सफलता हासिल कर सकी। कितना गौरवान्वित होता है अध्यापक। यह समय जिस तरह का है—यह अतिरिक्त गौरव बहुत सहज है। पर अब समय अच्छा आएगा।...'कल फ़तहयाब निश्चित'...

आज जो अपना परचम गाड़े हुए है, वह कल कहाँ डोलता नज़र आएगा नहीं जानते...!...इतिहास गवाह है, ऐसा ही होता आया है। आज दुनिया, एक दूसरे अर्थ में 'ग्लोबल विलेज' है। बहुत सँकरी मानसिकता हो गई है। रंग, जाति, देश सभी के दायरे कसते जा रहे हैं। हम दस-बीस साल पहले जितनी खुली सोच रखते थे, आज नहीं रखते। 'जो असल में हैं हम, वो बजकहिन नहीं हैं हम'...जिस पर राजनीति ने ऐसी गड़-मड़-गुड़गोबर...कर दी है चीजें कि वह सब irrepairable हो गई हैं। अब व्यक्तियों की नीतियाँ काम आएँगी, सामूहिक सोच नहीं। 'सामूहिक सोच'—यह खुद कैसा अजीब फ़िक़रा है...! समूह भला कहीं सोचता है ? वह तो करता है, उससे जो करवा ले !!

यह तय है कि ये दौर अपना रंग लाएगा, पर ख़तरे कम नहीं। ऐसा न हो कि देशभक्ति की दौड़ में देश ही पीछे छूट जाए !! धावक के गणवेश में इस क़दर दूर निकल आएँ कि पता ही न चले, कब दौड़ समाप्त हुई और कहाँ ?

अब तो अपने देश की मुट्ठी-भर मिट्टी उठाकर सूँघ लेनी पड़ेगी...कि कहीं खुशबू न भूल जाएँ। कहीं स्पर्श अजनबी न लगने लगे।

हम कीचड़ की जगह पंक बन सकते हैं। हमारे मित्र पंडितजी बता रहे थे कि उनके यहाँ गाँवों में खेतों की मिट्टी को पंक कहते हैं, कीचड़ अलग है। यानी वह, जो धान को धारण करें !! बाबा की कविता में है—'पंक बना हरिचंदन...'

कमल न सही, पंक ही सही। और 'पंक' बनेंगे तो कौन जाने पंकज बन ही जाएँ !!

मर गया ईश्वर

कोई नई बात तो नहीं है ये, फिर ?

ईश्वर को मरे तो बरसों बीत गए। सहस्राब्दियाँ।

हं...हं भाईसाहब, समय आजकल कितनी तेज़ी से बीत रहा है।

एक-एक साल कई-कई सालों को लाँघता हुआ निकल जाता है।

उस हिसाब से सहस्राब्दियाँ तो बीत ही गई होंगी। है न ?

ईश्वर के मरने के साथ-साथ कई और चीज़ें भी तो हुईं। मसलन, हम विज्ञानी हुए। ज्ञान-विज्ञान सर्वसुलभ हुआ। इससे अच्छा और क्या हो सकता है ? इतना ही नहीं, धरती और मन की अनगिनत पर्तों को भेदने की हमारी क्षमता अभूतपूर्व हो गई। हमने समुद्र की गहराइयाँ और आकाश की ऊँचाइयाँ छू लीं। और तो और आकाश के भीतर (?) गहरी सेंध लगा ली !!!!

और यह सब हुआ ईश्वर के मर जाने के साथ-साथ। तब तो क्या बुरा हुआ कि वो मर गया, बल्कि अच्छा ही हुआ।

हम कितने निर्भय हुए और निर्भयता एक अच्छा गुण है। हमने कहा कि ईश्वर मर गया, तो स्वर्गलोक तथा नरकलोक जैसा—कुछ कैसे हो सकता है ? ये पंडे, पादरी, मुल्ला सब झूठे हैं, लुटेरे हैं। उनके कहने में न आओ।

स्वर्ग और नरक सब यहीं—पृथ्वी पर हैं, हम स्वर्ग लोक के लालच और नरक की पीड़ाओं से मुक्त हुए।

हम उसका आतंक कैसे स्वीकार करें जिसे हमने देखा तक नहीं। सुना नहीं, छुआ नहीं—आख़िर इंद्रियाँ ही तो माध्यम हैं—हम तो वो जानते हैं, जो इनके द्वारा हमें मिलता है। फिर क्यों बेतरह उलझाता है वह बिंदु, सब कुछ जान लेने के बाद भी। अब भी बार-बार सिर उठाता है महज एक तार...

फिर क्यों आतंकित करता है वह अपनी सत्ता से ? अपनी अनजान सत्ता से। बाज लोगों की हिम्मत नहीं होती उस तार को छेड़ने की, पर बाज लोगों को उसकी आकर्षण शक्ति खींचती है अपनी ओर...बेइंतहा खिंचाव ! उस एक बिंदु के पार न जाने कितने ब्रह्मांड छिपे होंगे। कौन जाने ?

पर इससे क्या...? हम जिस ईश्वर को जानते थे...वह तो मर चुका। अब झुकना तो नहीं पड़ेगा उसके आगे। किसे मालूम कैसा था ? हमने तो नहीं देखा। कभी था भी ? लोग कहते हैं कि था...होगा भाई...ये सब बीते दौर...मध्ययुग की बातें हैं—टोना-टोटका। सायकोलॅजिकल केसेज। हम इन फ़ालतू चीजों को नहीं मानते।

अरे भाई...इतने सारे वर्ष उसके होने के आतंक में निकल गए। अब वह नहीं है। ह...ह...! चलो, अच्छा हुआ—जान छूटी लाखों पाए !!

काश, ऐसा होता ! हो पाता !

कोई एक फाँस है जो खटकती है, अटकती है कहीं।

ईश्वर की लोकप्रियता का क्रमांक इतना ऊँचा था कि चतुर व्यापारियों ने उसे बेचना शुरू किया। उसकी मृत्यु के बाद उसके मुखौटों का फ़ैशन चल निकला।

राजा ने उसे पहना और कहा कि मैं ईश्वर हूँ। लोगों ने सिर झुकाकर कहा—हाँ अन्नदाता, माई-बाप। धरती पर हमारे ईश्वर आप हैं। धर्माचार्यों ने भी उसे पहना—ईश्वर को भला उनसे अधिक कौन जानता है—लोगों ने सिर नवाया। यों लोगों को सिर नवाने की आदत पड़ गई। राज डूबे, रजवाड़े टूटे, राजा गए—तो नेताओं ने मुखौटे पहने। लोगों ने हँसकर हिलाया—जो नेताओं ने उसे दबाया—यों लोगों का सिर नवा रहा। यों ये मान लिया गया कि उन्होंने सिर नवाया। उन्हें आदत जो है सिर नवाने की।

इन 'नवे सिरों' की साक्षी में सारे करणीय-अकरणीय कांड हुए। मुखौटे पहने ये स्वामी, भगवान, नेता राज करने लगे, नीतियाँ गढ़ने लगे। एकांत की आवश्यकता थी, तो शहर से कुछ दूर भूमि पर आश्रम बनाया। लोकहित

के कारण 'लोक' से बहुत दूर जाना संभव नहीं। हिमालय न जा सके तो हिमालयन कूलर लगवा लिए। और ऐसे ही बहुत कुछ देखते-ही-देखते ईश्वर अंतर्राष्ट्रीय अंतर्संस्कृतीय हो गया।

ऐसे में मेरे अंतर्यामी, तू ही बता कि कैसे कहूँ कि तू है। कहती हूँ अगर कि तू है, तो लोग मुझे साइकोलॅजिकल केस मानने लगेंगे। मुझसे जवाब-तलब करेंगे—पागल या कमज़ोर क़रार देंगे।

कहेंगे, अजीब हैं आप ? ऐसी बात करती हैं ? आपसे ये उम्मीद न थी। इस चक्कर में कहाँ फँस गईं आप ? आज आप नाराज़ लगती हैं। कभी आप से विस्तार से बात होगी। आपके इस पतन पर हमें गहरा दुःख है। चिंता है। दुश्मन हँसने लगे। खि...खि...खि...खि...खिखि। नाराज़ ?

कौन जाने ? एकदम तो नहीं।

ख़ूब नाटक किया तुमने अंतर्यामी। अच्छे व्यापारी हो तुम। अपने मुखौटे बिकवा दिए।

जो मुखौटे पहनते हैं, एक तय भावमुद्रा के साथ दर्शकों के सामने मंच पर आते हैं। ग्रीक ट्रेजडी देखिए या कथकली। आप चेहरे से नहीं, करतूतों से, उनको जानते हैं।

तुम्हारे इस नाटक का अंत क्या है, प्रभु ?

लोक में ऐसा विश्वास है कि किसी के मरने की बात करो या किसी की मौत देखो तो समझो कि वह ख़ूब जिएगा तो भैया नीत्शे, तुमने तो ईश्वर को लंबा जिला दिया। कहीं ज़िंदा रहने के लिए ये नाटक तुमने तो नहीं करवाया ? (हं...हं...ये तो बस यूँ ही !)

इधर तुम्हारे मरने की घोषणा हुई, उधर अंधे के हाथ बटेर लग गई। कई तमाशे हुए। कई नौटंकियाँ हुईं। हर नौटंकी में तुम्हारी खिल्ली उड़ाई गई। तुम्हारे ही नाम से सारे काम होते रहे। तुम्हारा नाम लेकर अपना रंग, अपना भेस, अपना नाम बदलते रहे। जब भी ऐसा होता है।

हे सूत्रधार ! अभी और कितने फ़ार्स, कितने तमाशे, कितनी नौटंकियाँ खेलनी हैं, तुझे रे !!

अजीब ख़ब्‍तन हैं आप ? फिर वही...लौट के बुद्धू...कुछ और बात कीजिए...

मसलन...?

कोई भी।

कोई भी...। मसलन...मुहब्बत।

ओह ! इतना वक़्त किसके पास है...ऐसी परी-कथा सुनने का...आप किस दुनिया-जहान की...यह मध्यकालीन बात करती है...या परी-कथा... बल्कि प्राक्-ऐतिहासिक।

माफ़ कीजिए, मैं अलग राय रखती हूँ...

हाँ, दुनिया में कई काम हैं—मुहब्बत के सिवा...पर मुहब्बत कर लेने के बाद। मुहब्बत कोई शादी-ब्याह नहीं कि रस्सी हो, या स्कूल, कॉलेज की पढ़ाई-लिखाई कि वक़्ती...मुहब्बत तो मुहब्बत है—आपकी पूरी चेतना को घेरे रहती है।

और सच पूछिए मुहब्बत कर लेने के बाद, करने जैसा कुछ बचता भी कहाँ है। जो करते हैं, उनसे पूछिए कि इस दुनिया-जहान में प्रेम के अलावा कोई सार्थक काम है भी ? वो आपकी ओर पहले आश्चर्य से, फिर करुणा से देखेंगे। प्रेम न करने वाला अभागा जीव, प्रेमीजनों से और क्या पा सकता है ?

जो प्रेम नहीं करते, वो पहरे बिठाते हैं। प्रेमीजन क्या करें ? खुद ईश्वर लीला रचता है, जब उसे प्रेम करने का मन हो जाता है। वह सौंदर्य के अर्थ बदलता है, राज़पर्दा के महत्त्व को क्षीण करता है, वह खुद अपने अर्थ विस्तारित करता है, जब वह प्रेम करता है।

अरे भैया, सबसे बड़े पहरेदार तो मुखौटेधारी हैं। उनका क्या किया जाए। प्रेम जोड़ता है, पर जैसे ही वह समाज-व्यवस्था के रू-ब-रू खड़ा होता है, व्यवस्था उसे तोड़ती है। क्योंकि एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था को सह नहीं सकती। प्रेम किसकी व्यवस्था है ? संघर्ष जब तक नहीं होगा, ताक़त का पता कैसे चलेगा ? प्रेम की ताक़त व व्यवस्था का तभी तो पता चलेगा ? आप अगर विरोधी से डरें, तो गए। तब तो मान लीजिए, वह प्रेम था ही नहीं। और जो नहीं, जैसे कि 'प्रेम'। उसका ग़म क्या ? वह नहीं है। प्रेम करना तो जिगरे का काम है। कबीर जानते थे कि यह ख़ाला का घर नहीं। सीस चढ़ाने की तैयारी हो, तो करो प्रेम कोई !!

असल में दुनिया को चलाने, संचालित करने का इससे कारगर तरीक़ा और क्या हो सकता है ? हर कोई दूसरे के लिए सिर कटाने को तैयार हो, तो फिर सिर के दाम क्यों बोले जाएँगे ? यहाँ तो ये हाल है कि सारी ताक़त अपना शीश बचाने के लिए ख़र्च हो जाती है।

अजी संसार क्या, ब्रह्मांड तक इससे संचालित होते हैं। आरंभिक बिंदु है आकर्षण, कोई एक बात है कि खिंचे चले जाते हैं—और फिर वह एक

क्षण आता है कि उसकी गिरफ़्त में आ जाते हैं। गहराई और गिरफ़्त एक-दूसरे से किस क़दर जुड़े हैं। कहाँ दूर आकाशों के आकाश से आता है धूमकेतु...ग्रहों की गिरफ़्त में। टकराता है...फिर चारों ओर चक्कर लगाता है। अनगिनत समय तक।

एक-दूसरे से ऊष्मा-भरी दूरी पर स्थित पेड़ फूलते-फलते हैं। पेड़ों को भी अपनेपन की आदत होती है। वे एक-दूसरे की जड़ों के स्पर्श से हरहराते हैं।

वैज्ञानिकों ने कई प्रयोगों से साबित किया है कि अच्छे संगीत, अपनों की अच्छी संगत से पेड़ बेहतर फूलते हैं। आपने कभी पेड़ों को ग़ौर से देखा है ? वो आपसे बातचीत करते नज़र आएँगे। निस्पंद होंगे, तब भी आपसे विमुख नहीं होंगे। आप उन्हें आँखों से सहलाइए, वे आपको अंदर तक अनुभव करेंगे। आप छुइए उन्हें—हाथ फेरिए...तो एकदम हरहरी-सी ताज़गी महसूस करेंगे। जैसे गाय महसूस करती है, या घोड़े। वैसे ही जैसे आप करते हैं, जब आपकी पीठ पर कोई हाथ फेरता है।

क्या किसी ने आपकी पीठ पर इस तरह हाथ फेरा है कि दूसरे ही क्षण आपको लगे...जैसे बेइंतहा थकान को दूर करने वाली गहरी नींद के बाद आप जागे हों। ख़ून आपकी नसों में इस तरह दौड़ने लगे जैसे कोई शावक खुले मैदान में खेलता हो।

इनमें होती है मुहब्बत की पहचान—पेड़ों में, पक्षियों में, प्राणियों में। ये व्यक्ति के हृदय को बड़ी जल्दी भाँप लेते हैं—बच्चों की तरह। जो अंदर से कुटिल हैं, उनके पास फटकते भी नहीं। आप सचमुच अच्छे हों तो आपके कंधे पर, सिर पर भी बैठेंगे। वरना आपकी आहट पाते ही फुर्र से...। मैं हैरत से देखती हूँ उन्हें, जिनकी हथेलियों में दुबकते हैं कबूतर, गौरय्या, जिनके बिस्तर पर वे सो रहते हैं आश्वस्त...मानो पेड़ पर हों या घोंसले में...। वे...जिनकी उपस्थिति पक्षियों के लिए हवा की तरह हो...चारों तरफ भरे हुए...पर मोर नहीं। उपस्थित पर एकदम अदृष्ट। हवा की तरह जिसके न होने से उनका होना रेखांकित होता हो, महसूस होता हो ऐसे लोगों को पक्षी प्यार करते हैं। पक्षियों का प्यार पाने के लिए पारदर्शी बनना पड़ता है।

हवा-सी एकदम पतली
कि आर-पार देख लो।

क्या इतना पारदर्शी हम अपने को कर सकते हैं ? असंभव ?

या फिर आप शीशा हो जाएँ...कि दूसरों को प्रतिबिंबित कर सकें, इतने संवेदनशील कि चेहरे पर शिकन न आए और सब दूसरे आपमें छपते चले जाएँ...पर आप तो पारदर्शी दूसरे चाहे रह लें आपमें, अपनी ग़लतियों के साथ और आप...? अपने को लगातार दूसरे-दूसरे चेहरों से भरकर खुद किसी निश्चित छवि से वंचित रहें....पर आप चूँकि पारदर्शी हैं, तभी दूसरे आपमें इतने साफ़ होते हैं, सम्माननीय होते हैं।

खुद 'न बनकर' 'दूसरों' को अपने भीतर लेना...अपने को, अपने समय को अपनी स्थिति को इस क़दर पारदर्शी लेना कि इतिहास से भविष्य तक किरणें फैलती चली जाएँ। पिछला नए आलोक में दिखे। आने वाला ग्राह्य बने, स्वीकार के आलोक में। सहसा शमशेरजी बल्कि उनकी कविताएँ याद आती हैं। इस मोड़ पर जहाँ मैं दीवारों को पारदर्शी बनाना चाहती हूँ, शमशेरजी की कविताएँ एक नई मुद्रा में खड़ी दिखती हैं। उनकी कविताओं में आईने इस कोण से लगे हैं कि सब कुछ पारदर्शी हो जाता है। देखने वाले और दिखने वाले।

अगर अपना चेहरा देख कोई ख़ौफ़ खा जाए तो आईने क्या करें ! आईनों का शुक्र मानिए जनाब, कितनी बड़ी तसल्ली है कि कहीं पर तो ऐसे आईने हैं कि हम अपने को देख सकते हैं। पर हमने तो आईनों पर पर्दे डाल दिए। कुछ पर धूल के पर्दे, कुछ मतलब के 'न रहे बंसी न बजे बाँसुरी', न हों आईने, न दिखें अपने खौफ़ज़दा चेहरे...हमने दे मारा पत्थर...तो कई-कई टुकड़ों में बँट गया आईना। अब पूरा चेहरा तक एक साथ नहीं देख सकते। क़द की बात छोड़िए, कहीं पर कोई धुँधली आँख है, तो कहीं विकृत होते होंठ की विवश मुसकान ?

मुसलसल आईने के न होने पर हम बड़े बेख़ौफ़ हो गए हैं, क्या से क्या करते चले गए हैं !

हमें शर्म भी आती है, कभी भय भी लगता है। सिर नवाए हैं।...पर आईना न रहा कोई। अगर दीवारें व फ़र्श पारदर्शी हों, तब कुछ बात बने।

बंद दरवाज़े पर कुछ अशआर दस्तक देकर चले गए, जहाँ से आए थे वहीं लौट गए। किस दस्तक पर खुलेगा दरवाज़ा। दीवारें, फ़र्श सब पारदर्शी हो जाएँगे। कौन-सी होगी वह दस्तक ?

ईश्वर तो मर गया है !! शब्द तो झर गया है !!

कुछ अंतरंग क्षण कृष्णा सोबती के संग

घर जाने की तैयारी में थी, मन ख़ूब हो रहा था कि किसी तरह 'आवजो' कह आती। विचार करने के लिए थोड़े एकांत की ज़रूरत थी, मिल गया था अनायास। उजम भाई जा चुके थे, मृदुला ऊपर थी। इतने में मृदुला आई और कहा—'रंजना, सोचो कौन आया है ?' वह मुस्करा रही थी। मैं सोच में पड़ने ही वाली थी कि...उछल पड़ी उन्हें देखकर। कृष्णाजी आई थीं—ओह, विश्वास नहीं होता। मैं जितना उनका आना सोच नहीं सकती थी, उतना ही अपना उछलना...और मेरे इस स्वागत (स्वागत ही तो कहना चाहिए) को देखकर वे मुसकराते हुए आगे बढ़ीं और मेरी दोनों हथेलियों को अपनी हथेली में लेकर बोलीं, 'दैट्स इट, इट शुड बी लाईक दिस', वाह ! क्या बात है। मैं अनुभव कर रही थी। मेरे भीतर का सारा आनंद-उल्लास खिलकर मेरे रोम-रोम से फूट पड़ रहा है। यह अनुभूति शाम तक सदेह मेरे साथ रही।

फिर तो शोर मचा दिया हम लोगों ने। मैं, मृदु, उजम भाई, कृष्णाजी एवं परिहारजी। परिहारजी हक्के-बक्के देखते रहे, सोच रहे होंगे आत्मीयता का यह ताना कब और कैसे बुना गया ! बैठते ही उन्होंने पूछा—'यहाँ कोई कॉफ़ी हाउस है ?' हमने कहा—'कॉफ़ी हाउस का प्रचलन यहाँ नहीं है। पर हम लोग यहाँ एक गुमटी पर चाय पीते हैं, वैसे कैंटीन भी है।' हम लोग

उन्हें अपना मेहमान बनाना चाहते थे। पर जब उन्होंने कहा—'मुझे भी तो अम्मीजान बनने का मौक़ा दो।' तब हम क्या करते ? बस, अम्मीजान के संग-संग बच्चे चल दिए। शब्दों में यदि यह खुशी व्यक्त हो पाती तब क्या बात थी ! मुझे वह शाम याद आ गई, जब छत पर एक बहुत गहरे केसरिया आकाश को देख रही थी और मैंने चाहा था कि वहाँ क्षितिज पर एक आँख उग जाए। किसी काम से नीचे चली गई थी...पर कुछ ही क्षणों में लौटी तो ...नहीं। कहीं ये मेरे मन का प्रतिबिंब न हो...ऐसा नहीं हो सकता। वहाँ दूर क्षितिज पर एक आँख थी, जो मुझे देख मानो कह रही थी—'लो, मैं आ गई।' अभी आकाश के आलोक में सूर्य का पूर्ण बिंब और वह आँख मुझे अब भी देखती है। ऐसी अनुभूति मुझे अकसर होती है। आज सोचा भी नहीं था कि सुबह की चाहना यूँ सच में परिवर्तित हो जाएगी।

मन कितना हो रहा था कि उनसे मिलने चली जाऊँ, उन्हें स्मृति रूप में एक देवदारु का फूल दे आऊँ। पर मन को रोक दिया कि हर भावना की मर्यादा होती है, जैसा कि सोबतीजी ने उस शाम कहा था—'ऑल ब्युटीफुल थिंग्स शुड एंड' तभी तो यह चाहना बनी थी कि वह खुद चली आएँ तो !! पर ऐसी चाहनाएँ अकसर हम बुद्धिमानी से झटक देते हैं।

यह भी तो लगा था कि इतनी बार मिलकर इतनी-इतनी बातें की हैं, अभी और आज चली जाऊँ, तो सोचेंगी कि बस ये तो चिपक गई। पर अब जब चली आई हैं, तब यही मान लिया कि मेरे चाहने से ही आई हैं।

मुझे ख़ुद आश्चर्य हो रहा था कि यह सब कैसे हुआ ! जब सोचती हूँ, तब बार-बार उन्हीं बातों को दोहराने की जुगाली करने की इच्छा होती है। सबसे बड़ी बात इस पूरे संबंध की यह है कि इसमें आरंभ (परिचय) से लेकर अंत तक हमारे बीच कोई नहीं था, केवल—वे और हम। 'शब्दलोक' के बहाने एक आत्मीय संबंध बढ़ा।

याद आता है, शनिवार। 19 सितंबर, 1981 को जब रेखा ने कहा, 'कृष्णा सोबती आ गई हैं'—तो पहला प्रश्न था—'काले कपड़े पहने हैं ?' उनके इर्द-गिर्द इतनी रहस्यात्मक बातें जुड़ी थीं कि एक जासूसी उत्सुकता के साथ उनकी ओर मुख़ातिब हुई थी। आरंभ की ही बात है तो बड़ी फ्रैंकली कह दूँ, स्वीकार कर लूँ कि चूँकि पता था कृष्णाजी खुलती नहीं हैं। अतः उनसे मिलने की कोई ज़्यादा उत्सुकता भी नहीं थी। पर था कि देख लें। और ऐसे में उसी शाम को जब गेस्ट हाउस की खुली छत पर रघुवीर भाई ने उन्हें जगाने के लिए मुझे उनके कमरे में भेजा, तब भी मन उतना पुलकित

नहीं था, जैसे पहले किसी भी साहित्यकार को देखने-भर से हो उठता था। यह बार-बार मिले अनुभव की प्रतिक्रिया भी होगी, ख़ैर।

दरवाज़ा कुछ देर के बाद खुला तब तक रहस्य की एक और परत जम चुकी थी, 'आइए' का स्वर सुनते ही मैं हाथ जोड़े भीतर गई। 'नमस्ते' कहते हुए कमरे के बीचोबीच वही जैसा कि रेखा ने कहा था, 'काफ़ी बूढ़ी लगती हैं।' 'नमस्ते' उन्होंने कहा।

पता नहीं मुझे कहीं भी अपने पर किसी प्रकार का भार नहीं लगा और मैंने कहा, 'अपना परिचय दे दूँ ?' अचकचाकर ही उन्होंने कहा, 'हाँ-हाँ, दे दीजिए।'

'मैं रंजना अरगड़े भाषा साहित्य भवन के हिंदी विभाग में शोध कर रही हूँ।'

'हाँ-हाँ !'

'वो रघुवीर भाई कह रहे हैं कि तैयार हो जाइए, अहमदाबाद देखने जाना है।'

'जी हाँ, अभी तैयार हो जाती हूँ—वोऽऽ...क्या है न, सो गई थी (ख़ूब हँसीं) यहाँ बड़ी गर्मी है...'

'हाँ, बहुत।'

'वो गर्मी ही नहीं—खैर, कुछ भी, वो...ऽऽ।'

'उमस।'

'जी हाँ, आप बैठिए...। मैं ज़रा अभी आती हूँ।' कहकर वे गुसलख़ाने में चली गईं।

बाहर आते ही मेरे बारे में अनेक बातें पूछ लीं—मसलन, क्या करती हूँ ? कहाँ रहती हूँ ? और इसी से जुड़ा—फिर खाती कहाँ हूँ ? विषय क्या है ? शमशेर तो...'बहुत अच्छे कवि हैं।' सुनकर मुझे स्वाभाविक ही अच्छा लगा।

मुझे आश्चर्य हुआ कि इन चंद मिनटों में मैंने बाला की बात के संदर्भ में...आई.ए.एस., साहित्य वालों का अन्य विषयों में अज्ञान आदि अनेक बातें कह दीं। उस बीच ठंडा आ गया था। मैंने उन्हें पेश किया, तो कहा—'आप लीजिए' इतनी विनम्रता के साथ कि मैं गद्गद हो उठी। उन्हें कपड़े बदलने थे, तो मेरी पीठ की ओर चली गईं और कहा कि आप बात कीजिए मैं कपड़े बदल रही हूँ। मैं अब भी चौंक उठती हूँ, जब मुझे इस बात पर कहा अपना कमेंट याद आता है—'जरूर, निश्चिंत रहिए। मुड़कर नहीं देखूँगी।'

'फ़र्क़ नहीं पड़ेगा,' कहकर वे हँस पड़ी थीं। पहली ही भेंट में इतने अनौपचारिक वार्तालाप की मुझे उम्मीद नहीं थी। उस दिन जब वे विदा हुईं तो कहा था—'आपके बारे में और बात करना मुझे अच्छा लगेगा।' मुझे बताना भला, क्यों बुरा लगेगा, मैंने सोचा !

असल में ये बातें उस समय भी मुझे अच्छी लगी थीं, क्योंकि आरंभिक रहस्यमयता स्पर्शक्षम तो सिद्ध हुई थी। मुझे उनकी अनौपचारिकता बेहद पसंद आई। संवाद की संभावना खड़ी हुई थी।

बात शुरू होने की जहाँ संभावना थी वहाँ बात के ख़त्म होने की भी। पर दूसरे दिन कार्यक्रम के बाद जब नमस्ते किया तो उनकी आँखों में गत शाम का परिचय उतना ही ताज़ा दिखा, मुझे क़तई उम्मीद नहीं थी। मुझको वो अच्छी लगीं, एक बात है। पर उन्हें मैं याद रही, दूसरी बात है। नितांत भिन्न।

उस दिन उनकी 'कैफ़ियत' सुनकर तो मन प्रसन्न हो उठा था। फिर उन्होंने पहचाना भी, मिलते ही पूछा—'कैसा लगा।' मैंने कहा—'बहुत ही बढ़िया' तो हलके गहरे चश्मे में से उनकी आँखें और पूरा मुख मेरी तारीफ़ को स्वीकारता हुआ हिल रहा था। मैंने 'मृदु' का परिचय करवाया। वे उससे बात करने में लग गईं। अतः साथ में आई 'लाभुबेन' का परिचय नहीं करा पाई। मृदु से बात ख़त्म होते ही उन्होंने पूछा—'आप कौन हैं ?' लाभुबेन को अच्छा लगा ही होगा ? पर हमें तो बहुत ही अच्छा लगा और मेरे मुँह से निकल पड़ा, मैं आपको अपने घर बुलाना चाहती हूँ। पास ही में है, गेस्ट हाउस के। आप आएँगी न ? अधीर होकर मैंने पूछा था। हँसकर उन्होंने कहा—'आप बुलाएँगी, तो क्यों नहीं आऊँगी।' मन के खिल उठने के लिए इतना ही काफ़ी था। हम लोगों ने तय कर लिया कि उन्हें बुला लें। सोमवार वे व्यस्त थीं। हम भी। तब सोचा, मंगलवार क्योंकि बुधवार 'सर' के यहाँ कार्यक्रम था। सोमवार शाम जब उनसे बात की, तो उन्हें अपने कार्यक्रम के बारे में पता ही नहीं था। मंगलवार सुबह तय करेंगे इस वायदे के साथ और एक बड़ी प्यारी आश्वस्ति-भरी मुसकान के साथ बात वहीं पूरी हुई। पर असल में बात अब शुरू होने वाली थी।

मंगलवार सुबह ठीक आठ बजकर पाँच मिनट पर हम लोग जब उनके कमरे में पहुँचे, तो वे हमारी ही प्रतीक्षा कर रही थीं। मैंने एक बात पर ग़ौर किया कि जब भी उनसे बात करने का मौक़ा आता है, तब मन बड़ा हलका-फुलका रहता है। प्रतिभा और बड़प्पन का कोई भार नहीं। जैसा

अकसर जाने-माने लोगों से मिलते समय होता है। अपनी नगण्यता और उनके दबदबे के बीच फैला बड़ा अंतराल, अक्सर एक हद तक ही हमें उनकी ओर बढ़ने देता है।

हम तो गए थे समय लेने और उनका डेढ़ घंटा तो उनसे दोपहर के लिए समय लेते-लेते ही ले लिया। उस समय भी कितनी बातें—मैंने शमशेर की बात चलाई तो कहा, 'ही इज ए वैरी कांशंसस राइटर, मुक्तिबोध के बाद मैं मानती हूँ, वही सबसे बड़ा कवि है। भाषा, शब्द का कितना सोचकर उपयोग, प्रयोग करता है। वाह ! क्या बात है।' कुछ देर ही 'साहित्यिक' बातें हुईं। थोड़ी देर के बाद उजम भाई आए। हम लोग बातें कर ही रहे थे कि माधव आए। अपने एक विद्यार्थी के साथ। उनके विद्यार्थी को सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का पोर्ट्रेट लाना था और कृष्णाजी से समय लेना था। कृष्णाजी हँस पड़ीं—'ओ ! हो ! इस शक्ल की क्या पोर्ट्रेट बनेगी। कितना बड़ा चेहरा है,' कहकर हँस पड़ीं। कृष्णाजी के हँसने का भी एक अंदाज़ है। उजम भाई तो कह रहे थे कि वे जब हँसती हैं, तो उनकी तरफ़ देखते रहना मुझे बहुत पसंद है। पूरा हिल जाती हैं। दाएँ से बाएँ और बस मन भरके, जी खोल के, खिल ...खिल...खिल...।

कितना सफ़र तय कर लिया हम लोगों ने साथ-साथ, नैनीताल, दार्जिलिंग, अंडमान !! भूकाली वाले रास्ते से फिर पैदल-पैदल सात ताल और भीम ताल पर इस बार कृष्णाजी जा रही थीं। मैं पहले तो देख रही थी, पर कब उनके साथ हो ली—पता ही नहीं चला। तभी वह अपरिचित निवृत्त अंग्रेज़ और नवविवाहित अंग्रेज़ दंपति मेरे लिए व्यवधान नहीं बने। सात ताल में साधना करने की इच्छा, उनका समर्थन पा बलवती हो गई...कम-से-कम दुबारा सात ताल जानने की इच्छा जागी ही जागी। उनके साथ दार्जिलिंग से सूर्योदय देखकर लौटे, लेकिन फिर उनका वह सूर्योदय देखकर अपने कमरे में जाना और दो दिन तक कुछ भी नहीं देखना—चाहकर भी मेरे साथ नहीं आ सका। वह तो उन्हीं का था। उनकी प्रतिक्रिया, उनकी अभिव्यक्ति। उन्होंने कहा, 'वह रो पड़ी थीं।' मैं मानती हूँ।

पहाड़ी से घिरे उस छोटे-से जलखंड पर चलने की तीव्रतम इच्छा कि 'चाहे मौत आ जाए'...पर फिर लौटते वक़्त वहाँ जाना तक नहीं—'मुझे डर लगा'...उन्होंने कहा—'कि सचमुच आप चल न पड़ें उस पर' मैंने बात को यूँ मोड़ा।

फिर उनका पास-पास खड़े चीड़ों के बीच के आलोक को मोमबत्ती-सा

कहना...! समुद्र ! ओ हो...हो...हो...। इट इज वंडरफुल। जब उन्होंने ऐसा कहा तो वह एक साथ अनेक क़दम चलकर मेरे निकट तक आ गईं। अंडमान के समुद्र को नहीं देखा, पर उनके समुद्र-प्रेम को देखकर मन उछलने लगा। समुद्र-प्रेम बड़ा निरुपद्रवी शब्द है। पागलनन ज़्यादा सही है।

फिर थोड़ी विदेश-यात्रा।

उस दिन और बाद में भी उन्होंने कई बार कहा—'मनुष्य कुछ भी और कितना भी कर ले, पर नेचर—इट्स द लास्ट वर्ड, आप उस पर विजय नहीं पा सकते।'

हम सब बड़े आनंद से उनकी सारी बातें सुन रहे थे। माधव ने उनसे पूछा, 'आपने यह सब लिखा नहीं है ?' तो थोड़ा हँसकर, थोड़ा रुककर (संकोच...!!) कहा, 'नहीं...यह असल में मेरा बहुत पर्सनल है। मैं इसे पब्लिक करना नहीं चाहती।'

'तब तो हम बहुत भाग्यवान हैं,' माधव ने मानो हम सबके मन की बात कह दी। अपनत्व गहराता गया।

फिर कितने सारे क़िस्से बताए। बड़े ही मजेदार लोगों से मिली थीं, लगा था कि हाँ, ये एक लेखिका हैं। शाम चार बजे का समय तय हुआ। दो बजे तक तो व्यस्त थीं। मैंने कहा—'आराम करके पाँच बजे जाइएगा।' तो कहने लगीं—'आराम तो ठीक है।...अच्छा तो चार बजे ?' उन्होंने मान लिया।

गेस्ट हाउस से निकले तो विश्वास नहीं हो रहा था। उन्हीं के लहजे में कहूँ तो...वाह ! क्या बात है, पर कहाँ कह पाती हूँ, लिख ही पाऊँगी।

शाम का कार्यक्रम एक तरह से 'क्लोज्ड सेशन' था। मैं मृदुल मास्साब, उजम भाई, परेश और मैडम...हाँ, ग़ैरहाज़िर बिंदु भी। उजम भाई इस परिचय से प्रसन्न थे। दोपहर भेजने से जल्दी आ गए थे। सुबह के अनुभव ने शाम की उस मुलाक़ात को बहुत प्रतीक्षित बना दिया था। शिवा का कैमरा था। सो सोचा, फोटो भी खींचेंगे।

शाम को चार बजे मैं एवं मृदुला उन्हें बुलाने गए। वो तैयार हो रही थीं। गहरे नीले रंग का ग़रारा। हमने देखा कि जब से आई हैं—एक बार भी काले कपड़े नहीं पहने थे। उस थोड़े से समय में भी कितनी बातें हो गईं। वे कितना खुलकर बातें करती हैं। सभी तरह की बातें। विषय की कमी ही नहीं थी उनके पास। मानो प्रतीक्षा ही कर रही हों कि कब कोई आए और मैं खुल पड़ूँ।

पहले तो हम चार (मैं, मृदुल, उजम और मास्साब) थे। मैं क्षण-भर के लिए सोच रही थी कि न जाने क्या बातें करेंगे। अभी तक तो जो बातें हुई थीं, उन्होंने ही की थीं। लेकिन ऐसी कोई समस्या नहीं आई।

हम लोगों को यह लग रहा था कि अपनी किसी पुरानी मित्र से बातें कर रहे हैं। जो बड़े दिनों बाद आई हो और इस बीच उसने बहुत देख लिया है। खूब घूम लिया है। और वही सारी बातें वो हमसे कर रही हैं। बीच का अंतराल बाँटने के लिए बातचीत थी, सो हम लोग भी अपने अनुभव सुना रहे थे। उनके कुछ अनुभव तो हमारे काफ़ी काम के थे। अकेले घूमते वक़्त संकट आने पर कैसे कई बार चकमा देकर भागी हैं, अपनी जान बचाई है—इत्यादि-इत्यादि।

कुछ देर तक वे कॉट पर बैठी थीं, पैर लटकाए। पर थोड़ी देर के बाद आराम से पैर कॉट पर चढ़ाए तकिया लगा बैठ गईं। बस, बात जम गई। एक बात तो माननी पड़ेगी कि जब आप उनसे बात करते हैं तो वे अपना सारा ध्यान आप पर लगाती हैं, उनकी आँखें बड़ी तेज़ हैं। पर शैतान भी हो जाती हैं कभी-कभी। जब उम्र की बात आई या और ऐसी ही कोई तो जिस ढंग से वे आँखें मिचकाती मुसकराईं कि उम्र के अनेक वर्ष पीछे छोड़े। वे हमारे काफ़ी पास आकर खड़ी हो गईं।

इतनी सामान्य बातें हमारी आपस में हो रही थीं कि हमें विश्वास ही नहीं हो रहा था। असल में कुछ बात तो यह है कि इस 'प्रकार' के लोगों के साथ निश्चित ढर्रे में ही बात करने की आदत हो जाती है इसलिए जब कोई अपवाद मिलता है तो सुखद अवश्य लगता है, पर साथ ही विश्वास नहीं होता कि वास्तव में यह जो है, वह हो रहा है।

काफ़ी देर बाद मैंने चाय बनाने की सोची, पूछने का सवाल ही नहीं था। सीधे कहा मैं चाय बना रही हूँ, अब दिन काफ़ी ढल गया है, सो आपको गर्मी नहीं होगी और आप पिएँगी। वे क्या कहतीं, बस हँस दीं।

मैडम आ गई थीं। मैं चाय बना रही थी। मौका इतना सही था—उतने में परेश भी आ गया। चाय पी जा रही थी और मैडम सोबतीजी एवं मैं—उनके उपन्यासों की भाषा को लेकर गंभीर चर्चा छिड़ी। वे पूरी गंभीरता से बात कर रही थीं। कुछ क्षण पहले का उनका वह मित्र-सा रूप अब 'लेखक' बन गया था और अपनी कैफ़ियत दे रहा था। कह रही थीं कि हिंदी वह नहीं है, जो हम चाहते हैं पर जब मेरे पात्र एक विशेष प्रकार की भाषा चाहते हैं, तो ऐसी भाषा देना मेरा कर्तव्य है लेखक के रूप में। वो बड़ी ईमानदारी

और समझदारी से बात कर रही थीं और उन्हें इस तरह बातें करते देखना अच्छा लग रहा था।

चाय पी चुके थे और बातें थीं कि हो रही थीं। शाम हो चुकी थी। मेरा ध्यान आकाश की ओर था कि सूरज डूब जाएगा तो। पर बातें इस तरह चल रही थीं कि उन्हें तोड़ना भी ठीक नहीं लगा। आख़िर एक में से दूसरी, दूसरी में से तीसरी और फिर चौथी...बात जब समाप्त हुई, तब मैंने छत पर जाने का प्रस्ताव रखा।

जब छत पर पहुँचे तो पश्चिम का आकाश बादली हो रहा था। डूबती-गहराती शाम और बरसाती बादलों से घिरा आकाश। लेकिन फिर भी इतनी धूप तो थी ही कि फोटो आ जाए। सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते कृष्णाजी और परेश में बातें हो रही थीं। परेश उन्हें कुछ समझा रहा था, अपने विषय के बारे में बता रहा था, उजम भाई सुन रहे थे। क्लिक...मैंने एक फोटो लिया। कृष्णाजी को पता नहीं था। फिर जब उन्हें पता चला तो वे मना करती रहीं, परेश मुस्कराता रहा और मैंने फिर उन्हें अपने कैमरे में बंद किया। फिर एक सिलसिला चला फोटो खींचने का। बातें करने का। 'हम लोग यहाँ पहले क्यों नहीं आए,' कृष्णाजी बोल पड़ीं। उन्हें बहुत भला लग रहा था। छत की मुँडेर पर टिके-टिके पश्चिम की ओर देखते हुए, ढँके हुए माथे से भी उड़ते हुए बालों को सँभालते हुए उन्होंने कहा—'ऐसी खुली हवा दिल्ली में कहाँ।'

कुछ ऐसी बात निकली तो मैंने कृष्णाजी को परेश के उपन्यासों के बारे में बताया। बात बड़े ही खुले ढंग से हो रही थी दो सर्जकों—उम्र के दो छोरों पर खड़े सर्जकों के बीच। बात बहुत गंभीर थी। परेश कहने की रौ में पहले उपन्यास के संदर्भ में अपने पहले प्रेम की बात कह रहा था, उनकी बात समाप्त होते ही एक बड़ा ही शैतानी भाव अपनी आँखों में लाकर पूछा (उन्होंने)—'इफ इट्स नोट टू मच, केन आई आस्क ह्वाट इज हर नेम' कहते-कहते वह हँसी। दक्षा...परेश ने कहा तो उसके आगे की बात न सुनकर उस नाम को दोहराती ख़ूब खिलखिलाकर हँसने लगीं और सारा वातावरण इतना अनपेक्षित रूप से हलका हो गया कि हम भी चकित-प्रसन्न से हँसने को हो ख़ूब हँसे। बस हँस पड़े। ऐसा कमेंट उनकी तरफ़ से आएगा, ऐसी आशा ही नहीं हो सकती। 'मैं तो चौंक गया था,' परेश ने बाद में कहा था।

अब शाम काफ़ी गहरा गई थी और थोड़ी बूँदाबाँदी शुरू हो गई थी। अरे, बारिश होने लगी, बस इतना कहा और भूल भी गए। बातें यथावत् जारी रहीं। देर हो रही थी क्योंकि उन्हें शाम को कहीं और जाना था।

हम सब उन्हें छोड़ने गेस्ट हाउस तक गए। रास्ते में मुझसे पूछा—'रंजना, मैं शाम को कौन से रंग के कपड़े पहनूँ काले या सफ़ेद ?' मैंने पूछा—'कहाँ जाना है ?' तो कहा, 'वो काबराजी के यहाँ... ।' मैंने कहा—'तो फिर सफ़ेद ही पहनिएगा।' मैं अपनी उत्सुकता रोक नहीं पाई और कह ही दिया, 'बात जब निकली ही है तो कह दूँ कि आप आने वाली थीं, तभी से हमें उत्सुकता थी, क्योंकि सुना था कि आप काले कपड़े ही पहनती हैं। यहाँ जब आपके आने के समाचार मिले, तब पहला प्रश्न यही किया था—काले कपड़े पहनकर आई हैं ?' सुनकर बड़े कौतुक से हँसीं और कहा—'हाँ-हाँ, अक्सर ऐसी बात होती है। वैसे काले कपड़ों में मैं अपने आपको बहुत कॉन्फ़ीडेंट महसूस करती हूँ। आई डोंट नो व्हाय...पर... ।'

जब गेस्ट हाउस में वे प्रवेश कर चुकी थीं, तब हमने कहा—'अब तो हम जाते हैं।' विदा ली तो उनका चेहरा कह रहा था कि उन्हें यूँ अलग होना अच्छा नहीं लग रहा है। यह पढ़कर भी हम विश्वास नहीं करना चाहते थे। इतना तो कहाँ हमारा भाग्य हो, ऐसा हमें लगा था। वैसे लौटते में कह रही थीं कि मुझे अच्छा लग रहा है। 'इट वाज ऑल सो इन-फ़ार्मल अब तो सब बहुत फ़ोर्मल होगा।'

सारे अनुभव की जुगाली करते-करते ही दूसरा दिन लग आया था। गत शाम बादली थी, सो क्या पता फोटो कैसे आएँगे। सोचकर आज यानी बुधवार फिर जाना तय किया था। सुबह आठ बजे। उजम भाई से कह दिया था कि नहीं आएँगे तो चली जाऊँगी, फिर भूल भी गई थी। पर जब पौने आठ को ही वे यह देखने नीचे चले आए कि रंजना है या नहीं, तब पता चला कि सोबतीजी से वे किस हद तक प्रभावित हैं क्योंकि यह अभिव्यक्ति उजम भाई की नहीं। मैं खुश हो गई।

उनके यहाँ पहुँचे तो शायद वे गुसलख़ाने में थीं। छत पर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे कि मृदुला आ गई। हमने तय किया था कि आज बातें नहीं करेंगे केवल फ़ोटो लेंगे। पर कहाँ साहब—कहाँ से और कैसे बातें चल रही थीं, निकल रही थीं, पता ही नहीं चला। उन्होंने अपना बैग खोला और मुझसे कहा—'देखो रंजना, कल फिर मैंने यह पहना था' वाह !...ये तो 'अपने वाली' है। हम लोग नीचे चले आए। चाय पी रहे थे, बातें कर रहे थे। वापस कमरे में जाने से पहले फिर दो तस्वीरें ले लीं कि ख़ुदा न करे, अगर कहीं शाम वाली तस्वीरें हमारी बिगड़ जाएँ तो यह न हो कि उनकी एक भी अच्छी तस्वीर हमारे पास न रहे। शाम की तस्वीरें तो महत्त्वपूर्ण थीं ही, क्योंकि एक

बहुत ही प्यारा और दुर्लभ अनुभव उनके साथ जुड़ा था। लेकिन तस्वीर का महत्त्व अपनी जगह है विशेषकर तब, जब सोबतीजी मानती हों कि उनकी तस्वीरें अच्छी नहीं आतीं।

उस दिन भी डेढ़ घंटा बैठ ही लिए। हमने उन्हें अपने केबिन में आने का निमंत्रण दिया, भवन आने वाली थीं वे, पर फिर हो नहीं सका।

बुधवार शाम 'सर' के यहाँ आयोजन था। हम लोग बड़े उत्साह के साथ तैयारी कर रहे थे। पर वे नहीं आएँगी, ऐसा समाचार मिला। बहुत निराश हो गए थे मन से। वे कुछ देर के लिए आईं ज़रूर। तो कोई बात नहीं हुई, पर हमें कोई ग़म भी नहीं था। जब गईं, तो सभी से नमस्ते की—हम लोगों से भी विशेष अलग से नमस्ते करके गईं, तो हम लोग और भी प्रसन्न हो गए। वाह, क्या बात है !

गुरुवार—जब वाचिकम् में होना चाहिए था तब हम 'अम्मीजान' के साथ थे, इससे अच्छा वाचिकम् क्या होगा। 'विजय' में बैठे-बैठे अपना आइसक्रीम प्रेम बता रहे थे। हम सब काजूद्राक्ष खाना चाहते थे। परिहारजी ने भी हाँ कह दिया, कुछ आधे मन से, कृष्णाजी भी गईं, आग्रह किया तब फिर परिहारजी खुले। 'मैं तो मैंगो रिपल लूँगा,' इस पर कृष्णाजी ने हँसकर कहाँ कि 'आप हम लोगों के साथ काजूद्राक्ष लेंगे फिर मैंगो रिपल'...परिहारजी ना ...ना...कहते रह गए और कृष्णाजी ने कहा, 'यू आर ए यंग मैन...यू केन हेव इट'—उसी शैतान मुसकान के साथ।

आइसक्रीम आने में देर थी और बात शुरू करते हुए कृष्णाजी बोलीं—'मुझे आप लोगों की आदत लग गई'—और वे हँसीं...हम क्षण-भर नहीं समझ सके कि क्या कहें और बस कह उठे, 'वाह, और क्या चाहिए !' क्षितिज पर दिखी आँख कौंध गई मेरे मानस पर।

समय हो रहा था। परिहारजी ने उठने का प्रस्ताव रखा। उनकी बात भी सही थी, आख़िर व्यवस्था का भार तो उन्हीं पर था। कृष्णाजी ने कहा—'हाँ, चलते हैं। पर पाँच मिनट और। लेट मी इंज्वाय माय लास्ट फ़ाइव मिनट्स वीथ देम,' हमारे लिए तो ये सारी उक्तियाँ अप्रत्याशित, स्वप्नवत् थीं। प्रत्येक ऐसी आत्मीयता-भरी उक्ति सुनकर हम सोचते क्या यह सत्य है या फिर स्वप्न ! ख़ुशी का ज्वार इतना उफान मार रहा था कि हम देह के स्तर पर यह अनुभव करने लगे, तब सोचिए आप कि बात कितनी गहरी होगी। मैंने उनसे कहा, 'आपने देवदारु के फूल तो देखे होंगे ?' 'हाँ' में उन्होंने सिर हिलाया, 'मैं आपको एक फूल देना चाहती हूँ।'

'एम आई बर्थ देट'—'ऑफ़ कोर्स' मैंने कहा। पर कहने के बाद तुरंत मुझे अपनी बेवक़ूफ़ी पर शर्मिंदगी हुई।

फिर तो साथ-साथ गेस्ट हाउस गए। वहीं से घर जाकर देवदारु का फूल ले आई। बहुत कम लोगों को मैं ऐसी चीज़ें देती हूँ। उन्होंने बड़े प्रेम से एक रूमाल से उसे लपेटा। बड़ा नाजुक होता है न, और बड़ा कलात्मक, मानो वे देवदारु के बहाने हमारे इन क्षणों को सँजो रही थीं।

उजम भाई ने हस्ताक्षर के लिए डायरी आगे की तो कहा, 'मैं अंतिम पेज पर करूँगी। आई बिलीव कि पहला पन्ना एकदम इमपर्सनल होना चाहिए।'

समय हो गया था। सामान लेकर हम नीचे आए। 'आवजो' कहा। गाड़ी चलने ही वाली थी कि उन्होंने कहा—'एक मिनट' हम प्रतीक्षा कर रहे थे कि क्या कहेंगी ! पर्स खोलती हुई-सी उन्होंने ऊपर देखा और कहा—'वो...नहीं' आए। मैंने कहा 'परेश' तो कहा 'हाँ' उनसे मेरी याद करना—और गाड़ी चल दी।

वाह ! यही तो बात है। हम लोग कब से बातें कर रहे थे, वे उस समय भी तो कह सकती थीं। पर पहले की सारी बातों को तोड़कर इस बात को मानो फ़ोर ग्राउंड किया—'यू आर ग्रेट, रिअल आर्टिस्ट कृष्णाजी।'

कार मुड़कर चली गई और हमारे मन में उनके कहे ढेर सारे वाक्य बार-बार गूँज रहे थे, टकरा रहे थे—'ऑल गुड थिंग्स शुड एंड'...'मुझे आप लोगों की आदत लग गई है।' 'मुझे भी तो अम्मीजान बनने का मौक़ा दो' 'लेट मी इंज्वाय माय लास्ट फाइव मिनट्स विद देम'...दिस ब्युटीफुल थिंग वीक एंड !

आजा मेरी गाड़ी में बैठ जा...

बात हमेशा न कुछ से शुरू होती है। हमें सपने में भी ख़याल नहीं होता कि कौन नाव किस ठाँव रुकेगी। रुकी हुई नावें चलने के इंतज़ार में रुकी हुई हैं। भीतर चलने की बेकली लिये हुए ! कठिन धारों से बहते हुए वो पहुँची है जिस ठाँव...पर किनारा कहाँ ? अंतिम किनारे (?) की खोज में रुकी नावें अपने भीतर चलने की आशंका और तैयारी दोनों लिये हुए हैं।

हर किसी के पास अपना रास्ता निकल ही आता है; या कोई भी रास्ता जिसे वह अपना कह लेता है। आज़माइशों से थक गया है जो, उसने अपनी गाड़ी के टिकट बेचने के लिए खिड़की खोल दी है। अचानक कई सारी खिड़कियों पर बत्तियाँ चमकने लगती हैं। डर ! कैसा अजीब डर है यह।

एक खिड़की है जो राष्ट्रीय स्तर पर एप्लाईड शोध, प्रशिक्षण व सेवा द्वारा मानवीय एकात्मता की कोशिश कर रही है। मज़ा यह है कि उसके मूल में है धार्मिक संकीर्णता। सीमाओं में बँधे-बँधे व्यापक मानवीयता हासिल करना संभव हो सकता है ? दोनों में क्या मेल ? पर हमारी 'ख़रीद-बेच' कुछ इस तरह फैली है कि यह भी उसी का एक हिस्सा है। जो चल जाए, वही सिक्का। बेचेंगे सीमित धर्म, सहारे के लिए बात मानवमात्र के कल्याण की करेंगे। जितनी संकीर्णता फैलाना चाहते हैं, उतना व्यापक दृष्टिकोण रखिए।

जाल इस क़दर लुभावना हो कि जाल न लगे। धीरे-धीरे लोगों का धन, बुद्धि, मन और आत्मा तक को क़ैद कर लीजिए...मानवीय एकता के नाम पर।

टोटल ह्यूमन इंटीग्रेशन, अगर हर व्यक्ति अपनी निजी भाषा—संस्कृति, इतिहास और कला के माध्यम से ही पा सकता है, तो फिर धर्म-विशेष में दीक्षित कराने का आग्रह क्यों ? क्यों किसी धर्म-विशेष के मूलभूत सिद्धांतों को हम जानें ही जानें।

हर वो धर्म, जिसे लगता है कि उसका अस्तित्व संकट में है, उसके दिन भर गए हैं, ऐसे ही तरीक़े ढूँढ़ लेता है। या तो वह इस दर्जा संकीर्ण बाना पहनता है कि एक अदद रुश्दी या नसरीन की उपस्थिति-भर से उसकी सीवन उधड़ने लगती है। या ऐसा चौड़ा पाट फैलाते हैं कि आप अनजाने में उससे लपेट लिये जाते हैं। लपेट खोलना मुश्किल हो जाता है।

इधर हवाएँ भी तो घेरे में समेटने की चल रही हैं। फ़िज़ा इस क़दर घेरने की हो रही है कि हिंदू धर्म का जो वर्तमान स्वरूप उभर रहा है, वह वास्तविक हिंदू धर्म की लुटिया डुबो देगा। अब यह कहते पाए जाते हैं लोग कि चूँकि इस्लाम अपनी कट्टरता के कारण और ईसाई धर्म अपने प्रचारतंत्र के कारण छाया हुआ है, तो हिंदू धर्म कट्टर भी बने और प्रचार भी करे। यह नहीं दिखता कहने वालों को कि यह (अनावश्यक) तत्परता इस बात की ओर इशारा करती है कि धर्मसंकट में पड़ने का डर फैला हुआ है। पर यह भी इस परीक्षा-दौर में उठने वाला एक बुलबुला है, जिसमें हम जी रहे हैं, हम जिसमें से और जो हममें से गुज़र रहा है।

हम जिस दौर में जी रहे हैं, वह वाक़ई इतना कठिन दौर है कि जब पार कर लेंगे उसे और पलटकर पीछे देखेंगे तो भरोसा नहीं होगा कि सचमुच इस दौर को पार कर आए हैं और सालिम भी हैं। क्यों ?

मैं नहीं कहती कि ऐसा परीक्षा-दौर पहले कभी नहीं आया। पर इस बार लगता है, हम वाक़ई वहाँ जाकर खड़े हुए हैं, जहाँ खड़े होने की जगह, जगह नहीं लगती। हैरत होती है कि क्या यहाँ पहुँचने के लिए हमने इतनी लंबी और कठिन दौड़ लगाई थी : इस क़दर निराशा होती है कि मत पूछिए !

यह दौर अनिश्चितता का ही नहीं—अविश्वास का भी है ! यह दौर धोखे का है, विश्वासघात का है। इस दौर में जो हवा सुकून देती लगती है, उनका भी भरोसा बहुत दूर तक नहीं होता। सच पूछिए, संकट इसीलिए है। केवल संघर्ष ही मुद्दा होता तो दीगर बात थी। पर मुद्दा तो विश्वासघात का है। अविश्वास का है। तभी पलटकर देखते हैं कि पिछला जो कुछ किया उसी

में कहीं ग़लती तो नहीं रह गई है ? पर ये 'पलटकर देखना' इसलिए कि आगे की राह सूझ नहीं रही। कौन जाने, इसी में से नई राह निकले कोई। एक ख़याल ऐसा भी आता है। तभी हर कोई अपना सिक्का चलाकर देख रहा है। नए-नए स्वरूपों में, खोल में अपने को प्रस्तुत कर रहा है। पर ये चीज़ें बहुत दूर तक साथ नहीं देंगी। जो दुनिया हमने अब तक जानी है, अब उसके परे जाने की लालसा है। रेत में से तेल निकालने के बाद भी, क्योंकि, सत्य उँगलियों के बीच से फिसल गया है। हाथ ही नहीं आया। क्यों लगता है हमेशा कि सत्य अभी पर्दे में ही छिपा है ? पर्दे में छिपे सत्य को हर दौर में खोजा जाता रहा है...तब भी यही हाथ लगता रहा है कि एक और पर्दा है अभी। असल में गंभीर मुद्दों की चर्चा करते हुए ऐसी भावनात्मक रूपकात्मक भाषा मुद्दे के मैटर-ऑफ़-फ़ैक्ट को गंभीर नहीं रहने देती। पर बात वही है। हम किसी एक ऐसे सिद्धांत की खोज में हैं, जो सारे रहस्यों को समझा सके। या किसी 'ग्रांड नेरेटिव' को जो सभी को समो ले अपने भीतर, या परम सत्य को, अंतिम सत्य को—(मैं यहाँ 'ईश्वर' भी कह सकती थी, पर उसे बीच में लाना ठीक नहीं, वह तो यों भी विवादों में फँसा है।) सच पूछा जाए तो 'अल्टीमेट रिअलिटी' जैसा कुछ क्या संभव है ?

यहाँ तक आते-आते विज्ञान ने कला का रास्ता और तरीक़े अपनाना शुरू कर दिया है। कला विज्ञान के रास्ते पर तो बहुत पहले से चल पड़ी है। दोनों इसी कोशिश में हैं कि दूसरे का रास्ता ही सही हो, पर कुछ हाथ तो आए ! 'ड्रीम ऑफ़ फ़ाइनल थ्योरी' में स्टीवन वाईनबर्ग अपनी बात को कहने का तरीक़ा इतिहासकार से लेता है। पूरी किताब लिखते समय उस सामान्य पाठक को ध्यान में रखता है जिसका विषय भौतिकशास्त्र नहीं, बात उस तक भी पहुँचे—यानी वह भी संप्रेषण चाहता है। दूसरे तक पहुँचना चाहता है, विशेषज्ञों तक ही नहीं, सामान्य आदमी तक। यह भी एक तरीक़ा है, सबको शामिल करने का, उस बिंदु पर जहाँ अब तक यह हो न पाया था।

मनुष्य की एक असमाप्त खोज 'सुंदरता' है। विज्ञानी भी इस बात को जान गया है। बात को रखने का 'तरीक़ा' ही नहीं, बल्कि 'बात' भी सुंदर है। वाईनबर्ग कहता है कि कोई भी सिद्धांत, चाहे अंतिम रूप से सही न हो, पर सुंदर होना चाहिए। सुंदर से उसका तात्पर्य है कि पढ़कर, समझकर ऐसा लगे कि इसके अलावा यह और किसी तरह का हो ही नहीं सकता था। आइंस्टाइन का सापेक्षतावाद का सिद्धांत केवल अपने सौंदर्य तत्त्व के कारण

ही (संदेह की सीमा में होते हुए भी) अधिक जनप्रिय हुआ। जबकि लगभग सिद्ध होने पर भी थर्मोडायनामिक्स इसीलिए अप्रिय रहा कि वह सुंदर नहीं था। वाईनबर्ग का मानना है कि अंतिम सिद्धांत अनिवार्य रूप में सुंदर होगा ही। हम ग़ैर-वैज्ञानिकों के लिए, वैज्ञानिक सिद्धांतों के संदर्भ में ऐसी आग्रहपूर्वक सौंदर्य चर्चा विज्ञान को कम-विज्ञान (अधिक कला ?) बनाती है। लेकिन देखिए आप, कला और विज्ञान इतने पास-पास आकर खड़े हो गए हैं कि जैसे एक ही हों। सत्य की खोज, संभाव्यता की बात, शिवत्व का उद्देश्य तो दोनों में था ही, पर अब 'सौंदर्य' भी—जिस पर अब तक गोया कला का एकाधिकार था। विज्ञान ने इतना खुलापन तो दिखाया है कि 'धर्म के अहाते में भी वह घूम आया है।'[1]

सारा प्रश्न तब यह है कि शताब्दी के आरंभ में जो एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत हो रहे थे, अब अगर उनके बीच का अंतर घट रहा है या घट गया है, तो फिर संकट का यह दौर क्यों ? अब, जब तक उद्देश्य को पाने के लिए, मिलकर चलना असंभव नहीं रह गया, तब...?

असल में आदमी अब ऊब भी गया है, वह एक अनकही-अनसमझी जल्दी में भी है। दोनों को आज़मा रहा है वह—हासिल गतिरोध से हो या गति से—पर हो तो। उसने सब कुछ तो आज़मा लिया है, जाने-अनजाने। उन्नीसवीं सदी की वैचारिक क्रांतियाँ प्रश्नचिह्न लेकर खड़ी हो गई हैं—उसके सामने। एक भी व्यवस्था सुकून देने वाली नहीं निकली। न विश्वास से कुछ हासिल हुआ, न अविश्वास से ही—न ईश्वर का होना काम आया, न उसका मरना। इसीलिए वह नए सिरे से सारे जोड़ बैठाकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है। ये दौर एक ऐसी चादर है कि जिस पर एबॉरिजिन्स से लेकर सूपर कोलाईडर—सभी एक साथ एक समय में बुना हुआ है। जो जहाँ है, वहीं से आगे चलेगा—सीधी-सी बात है। फिर चाहे इस आगे जाने में औरों के द्वारा ग़लत साबित हुए रास्तों पर चलना ही क्यों न शामिल हो। वह चाहे बेवक़ूफ़ ही क्यों न साबित हो। जो कुछ गिनी-चुनी प्राणी-वृत्तियाँ मनुष्य ने सुरक्षित रखी हैं उन्हीं में से एक है—भेड़िया धसान।

लेकिन इस सबके बावजूद वह देख रहा है एक सपना—एक अंतिम जवाब, जो अब तक के और आने वाले सारे प्रश्नों पर भारी पड़े। यह दौर इसीलिए संकट का है कि हम जो आज तक मानते आए थे, वह तो अब

---

1. फ्रिन्जॉफ़ कैप्श की 'ताओ ऑफ फिजिक्स'।

वैसा नहीं रहा।

हमारे सामाजिक संबंधों, राजनीतिक मान्यताओं, साहित्यिक समझ—सभी का यह हाल है। अतः यह दौर हमारी उन कामयाबियों का है, जो नई स्थितियों में नाकाफ़ी साबित हो गई हैं, बहुत काम की नहीं रही है।

कैसे बदलेगा, कौन बदलेगा यह सब ? किसके पास है वह अंतिम सिद्धांत, वह अंतिम उत्तर, वह महा-स्वप्न—जिसके बाद न जागरण होगा, न नींद, न सपना...(एक आवाज कहीं से यह भी आती है...साथ-साथ, कि कौन चाहता है देखना अंतिम सपन...ये लीला· तो यूँ ही चलती रहे...)...ये कैसी उलझन है, तब ?

कुछ संकेत प्रकृति देती है...जहाँ कभी नहीं हुई वैसी बारिश लाकर, जहाँ कभी फटी नहीं थी, वहाँ दरक रही है धरती, गर्मी इस क़दर कि जैसे सूरज उतर आया हो नीचे...मौसमों के समय अब कैलेंडर के मोहताज नहीं। पहले भी नहीं थे, पर अब तो बिलकुल ही नहीं। मौसम अपनी जगह, कैलेंडर अपनी ! प्रकृति बदल रही है, धीरे-धीरे। नहीं रही वह पहले जैसी...मनुष्य की समझ से, पहले की अपेक्षा अधिक बाहर ! अधिक दूर !

कोई एक मसीहा होगा, या फिर हर व्यक्ति अपने ही धर्म, संस्कृति, भाषा, इतिहास, भूगोल और विज्ञान के भी संस्कारों, स्मृतियों व अनुभवों के आधार पर अपना मसीहा आप बनेगा ? या मसीहा की बात भी इस दौर में करना ठीक नहीं ?

संकट कहाँ है ? अभी तो सारी उथल-पुथल एक लंबी नींद टूटने का हिस्सा है—और नींद अभी-अभी टूटी है।

कौन-सी गाड़ी है जो अंतिम स्टेशन पर ले जाएगी ?

भिनसारे में मधुमालती

...और मैंने सोचा चाय पी जाए। शानदार चाय की बेहतरीन ख़ुशबू से ही ताज़गी भर जाती है, पूरे शरीर में। जीवन-भर ताज़गी की गारंटी न सही, कम-अज़-कम दिन-भर की तो सही। पर हाँ...प्यार करोगे, चाय से तो ताज़गी जीवन-भर की...गारंटी है साहब।

मेरी मेज़ पर चाय का प्याला था और उसमें से उठ रही थी ख़ुशबू ...शानदार चाय की बेहतरीन ख़ुशबू...पर इतना वज़न डालना ठीक नहीं रंजना...मैंने कहा। मैं चौंकी। कहीं यह डिवाईस तो नहीं...नहीं भाई डिवाईस-विवाईस कुछ नहीं। ये चाय है। मेरे भाई, जब आपकी नसों में ख़ून नहीं चाय बहने लगे, तो क्या खुशबुएँ न होंगी ? आप चाय में डूबें और चाय आपमें...(वह भी क्या करें !)

दौरा इन दिनों मुझ पर कश्मीरी चाय का पड़ा है। लिप्टन ग्रीन लीफ ...केवल (दो) चुटकी-भर डालिए जनाब और मिलाइए उसमें थोड़ी-सी दाल-चीनी व लौंग। केसर की एक पत्ती व बादाम की चंद कतरनें...(चाहें तो मलाई भी मिलाइए) वाह ! हाँ...साहब चाय तैयार...लीजिए।

कौन जाने यों भी इस जन्म में पुण्य-कर्म पाप-कर्म से कम ही है। हो सकता है अगला जन्म कीड़े-मकोड़े का मिले तब कश्मीरी चाय क्या पी जा

सकेगी ? अधिक-से-अधिक उसमें गिरा जा सकेगा...छिः...छिः यह तो (चाय का) रंग-भंग हुआ...छिः !

...मैंने अपना ध्यान चाय की ओर लगाया। हलके हरे कुछ हलके काही रंग के .ख़ुशबूदार पानी में मैंने बादाम की कतरनें मिलाईं। भाप का...एक गुबार उठा। आहिस्ता-आहिस्ता दबी-छिपी कई .ख़ुशबुओं के रंग उभरने लगे और खुशबुओं का एक मेला-सा लग गया। मैंने महसूस किया कि जीवन में कई रंग और .ख़ुशबुएँ हैं।

इतनी सारी .ख़ुशबुएँ चारों तरफ...तरह-तरह की और न जाने कैसी-कैसी। मेरी साँस...ओह साँस लेना मुश्किल हो गया...'सब-की-सब ज़िंदा होकर मुझ पर बरस पड़ीं।'

ये .ख़ुशबुएँ मौसमों की थीं, फूलों की थीं...घास और मिट्टी की थीं ...ये .ख़ुशबुएँ साबुन व क्रीम की थीं। जन्म की...यौवन की और बुढ़ापे की।

तो फिर, क्या मौत की भी कोई .ख़ुशबू है...कोई रंग ? जीवन के इतने रंग हैं तो क्या मौत बेरंगी है ? रंगहीन है ? ना रंगी है ? ना रंगी...सुनने में अच्छा लगता है। ना रंगी...नारंगी। नारंगी-सी लपटों में लिपटी मौत ! पर यह तो हिंदू मौत हुई...? आप भी क्या ? मौत में भी हिंदू व ग़ैर-हिंदू !! उसे तो बख़्शो मेरे भाई !

बिरंगी...बे रंगी...रंगहीन मौत...। मौत ही वह केंद्र है, जहाँ से जीवन को ये सारे रंग मिलते हों शायद...। पर .ख़ुशबू...क्या मौत की कोई बू है ?

कुछ जानवर ऐसे होते हैं, जो दूसरों की मृत्यु सूँघ लेते हैं। कुछ अपनी मौत सूँघ लेने पर, झुंड से अलग दूर जंगल में गहरे चले जाते हैं। मुझे भुजंग मेश्राम की कविता याद आई। वो कहते हैं कि पंछी की जब मौत आती है, तब वह जंगल में बह रहे झरने पर आता है। कितना अच्छा है !! काश ! मैं भी ऐसा कर सकूँ। दूसरों की नहीं अपनी मौत सूँघ सकूँ पर क्या मैं ऐसा कर पाऊँगी ? क्योंकि अपनी मौत भी वही सूँघ सकता है, जिसने अपने जीवन को साँस भर सूँघा हो। कम-से-कम साँस भर। जिसके बगल से .ख़ुशबुएँ गुज़र गईं हों...वह मौत की खुशबू क्या जान सकेगा ?

और मौत कोई चाय नहीं है...कश्मीरी भी नहीं, कि आप सभारंभपूर्वक बनाएँ और पिएँ। बादाम की कतरनें और केसर पत्ती डालकर। क्या ठीक कहा है कवि ने, मेरे कवि ने...'मौत कोई सेंटीमेंट की चीज़ नहीं है...' जिस क्षण आप मौत के सभारंग बना देते हैं, निजी ही सही, मौत आपके लिए पराई हो जाती है...आपके हिस्से में आता है—सभारंभ। जब मौत की

वास्तविकता से आप दूर जाते हैं, तब मौत भी पराई हो जाती है। मौत ठीक ऐसी ही है—जैसे आप और हम...'एक ठोस हस्ती...व्यक्ति के लिए।'

आपके हिस्से में सभारंभ तब आते हैं, जब आप उस दहलीज़ पर खड़े हों, जहाँ न जीवन आपका रह गया हो, न मौत ही को आप अपनी बना सकते हैं। न जीवन जीते हैं, न मौत ही को आप पा सकते हैं। सामने खड़ी हैं आपकी ही मान्यताएँ, आपको चिढ़ाती हुई कि मरने से कुछ नहीं होता ...समस्याएँ हल नहीं होतीं। होता अकसर यों है कि जीने के लिए आदमी को बहाना चाहिए होता है, कमज़ोर आदमी अपने आपको सिद्धांत के खूँटे से बाँध लेता है। प्रेम, मृत्यु, जीवन के आदर्श, नैतिकता के प्रचलित मापदंडों पर प्रश्नचिह्न लगाते, तो कभी निभाते वह अपने जीवन में इस तरह आगे बढ़ते हैं कि लगता है 'सतह पर चलते हुए आ रहे हैं।' लेकिन पाँवों के नीचे की ज़मीन धीरे-धीरे खिसकती जाती है। केवल चलने वाला जानता है कि धँसने के लिए साँस-भर, केवल एक परत-भर बाक़ी है। एक झोंका आएगा, एक लहर उठेगी और वह धँस जाएगा। दूसरों के लिए वह हमेशा पार ले जाने वाला बना रहता है...खुशदिल साहसी...संतुलित दिमाग...पर इन लोगों की क्या बात करें...वे जब धँसेंगे...डूबेंगे...तो इनकी ज़मीन परखी ही जाएगी। उनके आकाशों की ही नहीं ज़मीनों की भी जाँच होगी,...क्योंकि .खुशबुएँ ज़मीन से आकाश की ओर उठती हैं।

.खुशबुओं को पाने...पकड़ने के लिए उन्हें आकार में बाँधना पड़ता है। हमारी कोशिशें और होती भी क्या हैं ? इन .खुशबुओं को ठीक-ठीक आकार में पकड़ सकें।

मैं .खुद एक सही आकार की खोज में हूँ—एक सही स्वरूप जिसमें मैं अपने आपको अभिव्यक्त कर सकूँ। पर अभी तक ऐसा न कर पाई। मैं कभी कह न पाई जो कहना चाहती हूँ। और तभी सारा कथन, सारा कथातिव्य अर्थहीन होता जा रहा है। यों भी सही स्वरूप के अभाव में अच्छे-से-अच्छा कथातिव्य व्यर्थ हो जाता है। निराकार में आकार ढूँढ़ते हैं हम...। प्रचलित आकारों के ज़र्रे-ज़र्रे अलग करके ढूँढ़ते हैं हम, अपने मतलब का कोई आकार। दूसरों के आकारों में अपना कथातिव्य डालना यानी उनकी इच्छाओं, उनकी उम्मीदों व सपनों के अनुसार बदलना। तब...यानी यह तो 'दूसरा' बन जाता है। भीड़ बन जाता है। न कुछ बन जाता है ?

मेरी आँखों के सामने है—यह विस्तृत फैला आकाश निराकार...पर हमारी दृष्टि में वह फिर भी एक रूप ग्रहण करता है। यह क्षितिज-रेखा उसे

बाँधती है। आकार देना यानी बाँधना। चाहे आकाश हो या समुंदर...विस्तार का कोई अर्थ नहीं, अगर सीमा न हो। चाहे काल्पनिक क्षितिज-रेखा। असीम की सीमा बताती है...क्या अर्थ होगा उस असीम का जब तक वह हममें, ससीम में न निवास करें...न अपने को खोले...। मैं दिन और रात के विस्तारों में विचरण करती हूँ...ग्रीष्म और शिशिर के...ऊपर और नीचे...मैं उस क्षिति-रेखा को पार करना चाहती हूँ और असीम में तैरना चाहती हूँ...असीम में मेरी उपस्थिति उसे भी तो आकार देगी...मैं क्षितिज-रेखा तक...उसके परे तक जाना चाहती हूँ।

बी फोंट द होरिजन वहाँ पर भी क्या कोई .ख़ुशबू होगी ? आकाश में ...जहाँ न पृथ्वी है न आकाश, न जीवन है न मृत्यु...क्या वहाँ की पहचान .ख़ुशबू से हो सकती है ? या रंग से ? वहाँ तो प्रकाश-अंधकार की स्थिति है। हम अपनी सुविधा के लिए काला और सफ़ेद रंग कह लेते हैं। असल में अपारदर्शी...और पारदर्शी !

यह सवाल उस सवाल से भी कठिन है कि क्या मृत्यु की कोई 'बू' है ? मृत्यु को घटना है। घटित होती है। देशकाल में...व्यक्ति में। जबकि अवकाश—वह तो है ही ज़मीन, हवा, आकाश से परे...निर्गंध। गंधहीन नहीं निर्गंध।

क्या आप कभी ऐसे निर्गंध बिंदु पर खड़े हुए हैं कभी ? इस बिंदु पर खड़ा व्यक्ति योगी ही हो सकता है !! ऐसे निर्गंध बिंदु पर खड़े होकर .ख़ुशबुओं को देखना—यानी हिम दृष्टि से सूर्य को देखना।

.ख़ुशबुओं के मेले को पार करते हुए मैं एक निर्गंध वन में खड़ी हूँ... जहाँ पेड़ नहीं हरा और कत्थई रंग है, जहाँ चिड़ियाँ नहीं कई सारी रंगीन चहचहाहटें व कठोर-मुलायमियत है। जहाँ न झरना है, न नदी...पर शो... आवाज और भींगना है। जहाँ धूप अँधेरे को लपेटे हुए भी है और उसके गर्भ में भी है।

इस निर्गंध वन में खड़े होकर .ख़ुशबुओं को याद करना जैसे सपने की दुनिया के दरवाजे से यथार्थ की आवाज़ें सुनना है। यह रूपक नहीं है। यह वास्तविक भौतिक स्थिति है। ऐसा तब होता है, जब हम सपनों की दुनिया की आवाज़ें और भौतिक यथार्थ से आती आवाज़ें, एक ही बिंदु पर सुनते हैं, सुन सकते हैं।

तो...निर्गंध वन में खड़े होकर .ख़ुशबुएँ याद आती हैं। यादों के एक सिरे पर...कुछ हटकर है यह निर्गंध यथार्थ...क्या इस निर्गंध यथार्थ का रंग सफ़ेद

है...प्रकाश...जो अपने भीतर सारे रंग लिये हुए है ? या फिर बिरंगी...? रंगहीन...? नारंगी...निरंगी...?

हम घूम-फिर कर वहीं आ जाते हैं।

खुशबुएँ अगर ज़मीन से उठती हैं और हवा में तैरती हैं...तब तो मौत की भी बू होती है।

मुझे लगता है कि मौत पानी की तरह है—आप उसे जो रंग, जो आकार दें। खुद पानी का भी न अपना रंग है...न आकार। (ये अजीब ख़याल आया ...क्योंकि पानी तो जीवन का प्रतीक है...पर जाने क्यों ठीक लगता है।)

जन्म के उस सिरे पर रहती है मौत। क्या कोई शीशा है बीच में कि जिसमें जीवन का अक्स, मौत पर उभरता अंकित होता रहेगा ? क्या हम जिसमें रहते हैं, वह आईनाख़ाना है ? कैसा आईनाख़ाना ? जीवन अगर बीच में है इस आईनाख़ाने के, तब भी हर बार अक्स नहीं उभरता। हाँ, अगर ऐसा होता तो कहते हम, जैसा जीवन जिओगे, वैसी मौत पाओगे ! पर ऐसा हो, यह ज़रूरी नहीं है।

हाँ, लेकिन जिनके जीवन की अपारदर्शी दीवारें आईनाख़ानों में तब्दील हो जाती हैं, उनकी मौत केवड़े और गुलाब की ख़ुशबू से भर जाती है। सोने की तरह दमकता या ज़र्द पीला कोई रंग उन्हें अपने में लपेट लेता है। 'कहीं उसके पार...अणु-अणु से...न जाने कहाँ।'

जब सब स्तब्ध हो—रात के अंतिम प्रहरों में या ब्राह्म मुहूर्त में और कहीं से रातरानी या हरसिंगार के फूलों की एक लहर नथुनों में भर जाए...ताज़गी, मेरी ऐसी मौत मुझे मिले !!

मेरी मौत का क्या रंग होगा ?

2

लेकिन मोहतरमा, आपके जीवन का क्या रंग है ? कुछ होश है ?

'कहाँ से आई यह आवाज़ !!'

मैंने चारों ओर देखा।

'क्यों जनाब...बल्कि जनाबन...?' दुबारा किसी ने कहा !

अरे ! मेरे भीतर से कोई बोल रहा था !! (दो अदर सेल्फ ! च्चू अरे यहाँ तो कथ्य टैकनीक होने लगा।)

मैंने पूछा—'तुम कौन हो ? पहले बताओ, दिखो...तब मैं अपनी बात आगे बढ़ाऊँगी !!'

'मैं तुम्हारा 'स्व' हूँ।'

'...कहीं या टेकनीक या डिवाईस तो नहीं...या...मैडम, मैं टेकनीक नहीं वास्तव में हूँ। सेल्फ़ ज़िंदा...!'

'क्या हाड़-मांस के ?'

'हाँ...छू लो चाहो तो...पर (हँसते हुए) हा !! हाड़-मांस से क्या होता है !! चेतना ज़रूरी है। चेतनाविहीन, हाड़-मांस तो क़साई के यहाँ बिकने के लिए होता है।'...

'अच्छा, चलो छोड़ो...पर तुम यह सवाल क्यों पूछ रहे हो ? किस हक़ से ?'

'हक़ ? हक़ की बात पूछने का तुम्हें क्या हक़ ? तुम तो अपनी चेतना मार देना चाहती हो ? मैं तुम्हारी चेतना, तुम्हारे सारे सृजनात्मक क्षणों के बीच मेरी भूमि में उगे हैं—तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा भय, तुम्हारी वासना, तुम्हारे सपने, तुम्हारी कल्पना, तुम्हारी इच्छा। सब-सब...। तुम्हारा देखना, तुम्हारा छूना, तुम्हारा सुनना...सब...सब...सब...मुझमें से बीतता है, मैंने अब अपने भीतर समो लिया है और तुम पूछती हो हक़ ?

'नहीं, मैं तो शरीर ख़त्म करना चाहती हूँ...तुम तो शरीर नहीं...तुम्हें शरीर से क्या मोह ?'

'वह तो मेरा घर है...अन्यथा मैं कहाँ रहूँगी ?'

रात कई परत चढ़ चुकी थी। नहीं चमकते अगर तारे तो वह दिखती नहीं। ऐसी गहन घुप्प परतों वाली रात ! काली ! संगमरमरी ! कठोर ! चमकती हुई घुप्प गहरी काली रात !

जामुनी रात को सपना आता है, केसरिया साँवले दिन का। बीच में है सुनहरी सुबह। सोने-सी दमकती सुबह। उस एक दमकती सुबह में घुल जाती है, गेंदे की ख़ुशबू। अपनी असंख्य चोंचों से पक्षी सबको छू लेते हैं। एक असमाप्त चह-चह का गझिन परदा। सुनहरी धूप की एक किरन चीरती हुई उस गझिन परदे के आर-पार निकल जाती है।

रोज़ देखती हूँ यह अपना क्षितिज किनारे बैठे-बैठे। डूबते और उगते सूरज को अपनी हथेली पर झेलते-झेलते अब फफोले पड़ गए हैं।

एक विस्मृत संगीत की तरह मुझे मिले। जैसे किसी लोकगीत की धुन थे तुम ...'तुम्हारी आँखों से बरसते...अमरित से...मैं अपने जीवन को सँवारूँगी।' जीवन सँवर नहीं पाता मगर कई बार !!

कैसे सँवरता है जीवन तब ?

सारा का सारा जीवन हमारे हाथों से सरक जाता है। हम उसे सँवारना सीख ही नहीं पाते !!!

जीवन को सँवारती हैं ख़ुशबुएँ, जो कहीं-कहीं से आकर हमारे भीतर बस जाती हैं। 'कभी त्वचा से, कभी थिरकते रक्त से...कभी इनके पार अणु-अणु से'...महकती...।

3

'जब तुम मुझे मिले। एक खुला हुआ, फटा हुआ लिफ़ाफ़ा तुम्हारे हाथ आया।' जैसे शताब्दियों पहले का कोई पत्र हाथ आया। बदरंग-सा काग़ज़—जो कभी नीबू-सा हल्का पीला रहा होगा। मोड़ों पर फटा-कटा-सा। एकदम महीन...फड़्-फड़्। बरसों से बंद कमरे को खोलते ही जैसे एक भपका आपसे टकराए। एक अजीब-सी बू हवा में फैल जाती है। जो एक साथ आपको उससे दूर ले जाती है और अपनी ओर खींचती भी है।

मैंने आहिस्ता से पत्र खोला। धुन परिचित लगी, पर शब्द याद न आए कुछ इस तरह मुझे वो अक्षर लगे। मैंने ग़ौर से देखा। फिर नाम टटोला। एकदम गुम-सा सब कुछ। मैंने दिमाग़ पर ज़ोर दिया। अफ़सोस। बिलकुल याद न आया। मैंने याद करने के लिए भूल जाने का टोटका किया। सहज ही पाने वाले का नाम देखा। वह भी अनजाना। मैं एक क्षण-भर को निश्चिंत हुई। भूल जाने का अफ़सोस जाता रहा।

...तो फिर यह पत्र मेरे पास कैसे ? न भेजने वाले का नाम, न पाने वाले का नाम, न मज़मून—कुछ भी तो परिचित नहीं। क्या इस क़दर विस्मरण होता है बीते दिनों का...? मैंने पत्र दुबारा ठीक तरह से पढ़ा।

मरने वाले को दृश्य जैसे धुँधले दिखाई पड़ते हैं, कुछ उस तरह धुँधले होते जाते दृश्य और डूबते हुए स्वर कानों से टकराए।

युगों से घने बादल छँटेंगे...यह भरोसा नहीं था। बादलों का इस क़दर घना होना, सूरज के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाता रहा।

विजयलक्ष्मी के दिन, इंद्रिय तथा इंद्रियातीत के बीच का अंतराल क्षणार्थ के लिए लुप्त हो गया—ससीम और असीम के बीच का कौतुक कुछ क्षणों के लिए भासमान हुआ। मैं कह नहीं सकती कि ये क्या था...सत्य-अनुभूति या कुछ समय के लिए एक बहलावा...जो हो। पर फ़िलहाल यही अब तक का सच है। सत्य की खोज का यह भासमान स्वरूप आश्चर्य में डाल देता है। असीम-ससीम का यह युगपद जो लौकिक जगत् में तुम हो—उसी पर आकर सारी सोच थम जाती है।

इन दिनों मेरी मधुमालती में कलियाँ बैठी हैं। आजकल में खिल जाएँगी। नीचे कई सारे पक्षी, दो-तीन तरह के, चुग्गा चुग रहे हैं। हम जब विशेष के लिए आयोजन करते हैं तो निराशा हाथ लगती है। सामान्य के लिए किया आयोजन विशेष को साथ ले ही आता है—जैसे मोर।

तुम्हारे साथ एक सतत संवाद की इच्छा है, एक अनंत संवाद रू-ब-रू का अब मोह नहीं। क्योंकि जो रू-ब-रू है, वह वो नहीं जो वास्तव में है। 'जो असल में है वो ज़ाहिर नहीं, जो ज़ाहिर है वह असल नहीं।'

हाँ, चाहती हूँ इसी तरह पूरी हो यह यात्रा ! जैसे पेड़ से पत्ते झरते हों—बे-आवाज़—डाली पर कोई 'शेष-चिह्न' नहीं। वहीं उग आएँ फिर नए पत्ते। मुझे वसुधंरा पाटील की कविताएँ याद आ गईं।

—लेकिन तब तक...सारी धूप, सारी बारिश, चिड़ियों की चहक और हवाओं की महक...जितनी हो सके, मेरी मर्यादित देह, मेरे ससीम अस्तित्व, चेतना से जितना संभव है, अपने भीतर समो लूँ।...कि मिट्टी में मिलूँ जब, तब भीतर समोई हुई हो...ये अद्भुत लीला चौतरफ़ी। जो कि तुम हो...तुम ...मेरे दोस्त !

ऋचाओं की तरह कहे तुम्हारे वाक्य, तुम्हारी बातें याद आ रही हैं। तुमने कहा था कि हमें अपने अब तक के चले रास्ते पर से होते हुए सत्य को पाना चाहिए। शब्द ठीक ये न थे, पर मज़मून यही था। मैं अब जाकर इस बात को भी समझी हूँ। वह रास्ता जो तुम तक ले आता है। जिस पर मैंने सहसा चलना शुरू किया था वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध था...मेरी प्रकृति के प्रतिकूल !

सचमुच कितना समय लग जाता है, सुरों को ठीक-ठीक तौर पर लगने में, फिर उन्हें सम पर लाने में। लय व सुरों के अलग-अलग कोंबीनेशन्स द्वारा

हर कोई अपना-अपना राग खोजता है। अपने राग को पहचानने के लिए अपना सही 'सुर' पहचानना पड़ता है, उसके आरोह-अवरोह की सीमाएँ भी जाननी होती हैं। अपनी सीमाएँ बढ़ाई जा सकती हैं। पर ग़लत दिशा पकड़ना यानी अंतहीन व्यामोह में फँसना और उसी में भटकते हुए ख़त्म हो जाना—एक शौहर की तरह।

बारिश में उगी जंगली बेलें तेज़ी से बढ़ती हैं। उनका कोई भविष्य नहीं, पर चढ़ती हैं वे त्वरा से। मधुमालती या चमेली की बात अलग है। वह त्वरा से नहीं बढ़ती, देर लगाती है। वह पहले ज़मीन में अपनी जड़ें फैलाती हैं—आँखें खोलकर देखती है, तो हवाओं में भर जाती है रंग और .ख़ुशबू।

रंग और .ख़ुशबू। चौतरफ़ा, हवाओं में, आसमानों में, ज़मीन के भीतर तक !

मेरी मधुमालती पर भी फूल खिलेंगे। जल्दी ही। कलियाँ गुच्छ-सी गुच्छ तैयार बैठी हैं...!

कौन-सी हवा उन्हें फूलों में बदलेगी !!

तभी मैंने कहा कि जिसने जीवन की खुशबुएँ साँस भर ली हों, वही मौत को भी सूँघ सकता है।

नदी किनारे बैठकर जल के जलत्व का अनुभव कैसे होगा ? मैंने तय किया कि चाहे डूब ही जाऊँ...पर नदी में उतरूँगी, .ख़ुशबुएँ जो बग़ल से गुज़र रही हैं, उन्हें बग़लगीर करूँगी।

एक जुनून
जो सिर्फ़ जुनून था
फिर हुआ जुनून !!

भिनसारे का प्रकाश ! मेरी मधुमालती प्र-फुल्ल !!

●●●

Institute of Advanced Study
Acc. No. 110306
Date ...
SHIMLA

Library IIAS, Shimla
H 813.31 Ar 36 B
00110306

राधाकृष्ण